Chapter-5

पंचम अध्याय

नवगीतों में जनवादी चेतना के विविध रूप

नवगीतों में जनवादी चेतना के विविध रूप

हिन्दी नवगीत का जन्म आम आदमी के इर्द गिर्द उसकी समग्र संचेतना को झकझोरता हुआ जनवादी सहज भावधारा में ही अग्रसर हुआ है। 'गीत' संज्ञा के साथ हिन्दी गीतों की पुरातन रागावलियाँ सनिष्ठ हो जाती है। वही मध्ययुगीन सोच के सीमित दायरे, संयोग, वियोग, राग-रंग, नायिका भेद के प्रवंच, वही व्यभिचार और अतिचारों के पुनरावाची राग अथवा प्रकृति के मानवीकृत सौन्दर्य में भी दमित कुंठाओं के अधिरोपण दिखाई देते हैं।

पुरागीतों का रचनाकार भाव विभोर होकर आँखें बन्द करके कल्पनाओं की आल्हाद का अनुभव करते हुए गीत रचना करता था। जबकि नवगीत का रचयिता आँखें खोलकर वस्तुस्थिति से साक्षातकार करता हुआ जिन्दगी के कटु यथार्थ को सामने रखता है।

खुली आँखों वाले कवि आज के जीवन की विसंगतियों, चरित्र और आचरण के दुहरेपन और सोच के अन्तर्विरोधों पर अच्छी पैनी कविताएँ लिख रहे हैं। ऐसी अभिव्यक्ति समकालीन कविता की प्रवृत्ति बन गयी है। समीक्षकों ने भी इसका खुलकर स्वागत किया है। विसंगतियाँ, दुहरापन और अन्तर्विरोध यदि जीवन के तौर-तरीकों के रूप में स्वीकृति पा जायें तो जीवन भयावह हो जायेगा। इसलिए उन कविताओं की सराहना की जानी चाहिए जो उन विसंगतियों के कारण तत्वों की पहचान कराती हैं अर्थात् सही दुश्मन, माफिया लीडर अर्थात् विष-केन्द्र की पहचान कराती है। जो लोक कविता की प्रयोजनीयता, सार्थकता और सकर्मकता पर विश्वास करते हैं, उन्हें यह पहचान लड़ाई के असली मोर्चों तक पहुँचाने के मदद करती है।

जरूरी चीज है पहचान के लिए सही आइने का इस्तेमाल। यह अभिव्यक्ति का मसला है। कथ्य के लिए 'सखियाँ' जुलाना कविकर्म की मुश्किल साधना है। बारम्बार व्यवहृत हुई भाषा, उस भाषा के उपादान, अभिव्यंजना के उपकरण अपनी चमक खोते जाते हैं। उनकी धार और प्रभाव गोठिल हो जाता है। यह तो सच है कि कविता अभिव्यंजना धर्मी भाषा में ही निवास करती है। कवि यह भाषा विशेषण पदों, अलंकारों, प्रतीकों-बिम्बों आदि की सहायता से रचते हैं। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि कविता सब कुछ नहीं कहती। वह कम बोलती है, मगर बोलने के लिए ऐसे शब्दों और पदों का चुनाव करती है जो बड़े अर्थ खोलते हों। उसका अधिकांश कथ्य 'बिटवीन द लाइंस' होता है। कहे हुए शब्दों की अपनी सत्ता अवश्य होती है, साथ ही वे अनकहे कथ्य को उद्घाटित करने वाले की कुंजी भी होते हैं। इन कुंजी-शब्दों का सुन्दर और शक्तिशाली प्रयोग करने वाली राजेन्द्र उपाध्याय की एक कविता है :

"हे सर्पराज

रानी को डस लो,

रानी राजा को नहीं छोड़ती

राजा बढ़ई को दंड नहीं देता

बढ़ई खूँटा नहीं चीरता

खूँटा दाल नहीं देता

क्या खाऊँ

क्या पीऊँ

क्या लेकर परदेश जाऊँ।[1]"

कुल ३३ शब्दों की यह कविता अपनी संरचना, घनत्व, अर्थ की व्यापकता और प्रस्तुति की मुद्रा की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है जिसे हजारों में एक कह सकते हैं। इसमें रानी व्यवस्था है, राजा शासनतंत्र है। शासन तंत्र पर व्यवस्था की पकड़ इतनी मजबूत है कि वह अपराधई को दंडित नहीं कर पाता, काम करने वालों से काम नहीं करा पाता, कहने के लिए सैंकड़ों सेवा विभाग हैं, मगर सब अकर्मण्य हैं, दायित्यबोध से रिक्त हैं, देश की धन–सम्पत्ति जमाखोरों की तिजोरियों में बंद हैं। आम आदमी रोटी–कपड़ों तक के लिए मोहताज है, क्या खाकर वह अपनी सिर ऊँचा करे और दुनिया के उन्नत समुदाय के सामने अपने बड़े कद के साथ खड़ा हो जाये, इसलिये हमारे आक्रोश (सर्पराज) का लक्ष्य व्यवस्था (रानी) होनी चाहिए। इस कविता के भावार्थ को काफी बड़े विस्तार से खोला जा सकता है जिसमें वर्तमान भारत के व्यवस्था–तंत्र की तमाम विकृतियाँ समा जायेंगी।

---

१. राजेन्द्र उपाध्याय, उत्तरार्ध, अंक–१३, पृ.११

यह कविता दुश्मन की सही शिनाख्त करवाती है और जो लड़ना चाहते हैं, उन्हें लड़ाई के नाभि–मोर्चे तक ले जाती है। मैक्सिम गोर्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' में माँ का क्रांतिकारी चरित्र वाला लड़का, पावेल एक स्थान पर कहता है। 'आर्म योर हेड बिफोर योर आर्मस', (हथियार उठाने के पहले अपने मस्तिष्क को वैचारिक आयुध से सम्पन्न करो)। उसी उपन्यास में न्यायालय में कैदी क्रान्तिकारियों का एक बयान दर्ज है। वह बयान कहता है कि न्यायाधीश जिन कानूनों का हवाला देकर फैसला करते हैं, वे कानन सत्ताधीशों द्वारा अपने हितों की सुरक्षा में बनाये गये हैं, इस प्रकार न्यायाधीश भी उसी अत्याचारी–शोषक सत्ताप्रतिष्ठिान के अंग हैं, उनसे क्रान्तिकारियों (शोषण के खिलाफ लड़ने वालों) को क्या न्याय मिल सकता है। वे व्यवहार में अपराधियों को ही सुरक्षा प्रदान करते हैं, उन्हें दंड नहीं देते। राजेन्द्र उपाध्याय की यह कविता उपर्युक्त न्यायालय में दिये गये बयान की पुष्टि और समर्थन में प्रस्तुत दूसरा दस्तावेज है। पावेल की उक्ति के अभिप्राय को जीती हुई यह कविता पाठक के मस्तिष्क को वैचारिक–आयुध से सम्पन्न करती है।

''इस कविता का वैचारिक पक्ष जितना समृद्ध है, उसकी प्रस्तुति–शैली उतनी ही पैनी और प्रभावशाली है। उन्होंने कथ्य के प्रस्फुटन के लिए माँ–दादी द्वारा सुनाई जाने वाली एक कहानी का बिम्ब लिया है। उस कहानी में एक चिड़िया होती है जिसका दाना लकड़ी की दरार में फँस जाता है और फिर उस दाने को निकालने के लिए इससे–उससे प्रार्थना करती हुई वह बढ़ई तक पहुँचती है। इस कथा का आधुनिक संदर्भों में कविता में प्रयोग संप्रेषण शैली की एक सफल उपलब्धि हैं। कथा की जमीन और कहन बेहद जानी पहचानी, भारतीय है। रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपकरण घर की अत्यंत लगावपूर्ण स्थितियों से इक्ठठा करता है। अपनी मिट्टी से जुड़ा हुआ मन अपने परिवेश में बिखरी चीजों का प्रतीकात्मक प्रयोग कर

कथ्य के संप्रेषण को कितना सरल और सम्पूर्ण बना देता है, यह कविता, इसका सशक्त उदाहरण है।''[1]

समकालीन नवगीत अपने वर्ण्य चयन में रूढ़ या जड़ होकर नहीं खड़ा है, उसमें जो बदलाव या नयापन दिखाई देता है, वह वक्त के साथ परिवर्तित जीवन मूल्यों के समानान्तर आगे बढ़ता हुआ मानवीय सोच का ही वैशिष्ट्य है।

समकालीन नवगीत का स्वरूप अपने नयेपन के साथ प्रस्तुत हुआ है। यहां समकालीन, प्रगतिशीलता और प्रतिबद्धता के प्रति बढ़ता रूझान और रूढ़ परम्पराओं के प्रति वैज्ञानिक अस्वीकार स्पष्ट दिखाई देने लगा है। समकालीन नवगीत अपनी नयी ताजगी और नयी रचनात्मकता के साथ कविता के उत्कृष्टतम स्वरूप में उपस्थित है जहाँ सच्चे अर्थों में काव्य है। समकालीन नवगीत का कवि प्रगतिशील जनवादी चेतना से लैस है उसमें आक्रोश भी है विरोध भी है और सच को सच की तरह प्रस्तुत करने का सामर्थ्य भी है –

'' पृष्ठ–पृष्ठ पर नंगापन है / कोई कितना जिल्द चढ़ाए
सोई हुई लाज के मुख पर / जगते हैं अश्लील इशारे
अधियारे हो रहे प्रकाशित / चेहरा चुरा रहे उजियारे
हंसती सी निर्लज्ज देह है / मन का गहना कौन गढ़ाए[2]''

नवगीत की पृष्ठभूमि में बस दुर्भाग्यपूर्ण इतना यह है कि हिन्दी के कवि सम्मेलनों में ज्यादातर इसका श्रृंगारिक या रोमांटिक स्वरूप ही दिखलाई पड़ता है। समकालीनता बोध और गीतात्मकता के साथ प्रगतिशील चेतना से लैस रचनाकर्मियों की पूछ वहां विरल है। गम्भीर रचनाओं से कटना इसका नकारात्मक पहलू है क्योंकि

---

१. निलम श्रीवास्तव – नये पुराने, संपा.–दिनेश सिंह, अंक–१९९९, पृ.१६२
२. यश मालवीय, वही, पृ.१५१

मंच के ज्यादातर कवि नवगीतकार गलेबाजी या स्थूल रेखांकन और गलेबाजी को आधार बनाकर रचना कर्म करते हैं। जबकि इस गलेबाजी से काव्य को मात्र गाना बना देना हमेशा से दुर्भाग्यपूर्ण रहा है। संस्कृत में तो यहाँ तक कहा गया कि 'काव्य गीतेन हन्यते', यानि कि गाना काव्य को नष्ट कर देता है। लेकिन काव्य गाना के अलावा अखिर हो ही क्या सकता है जबकि गाना तो गम्भीर से गम्भीर काव्य को भी उसके मूल अर्थ में संप्रेषित करने की जगह गायकी को ही संप्रेषित करता है और काव्य वहां गौड़ हो जाता है चाहे वह भीमसेन जोशी या पण्डित जसराज का गायन ही क्यों न हो? क्या उसकी गायकी के पीछे राग रागनी के अलावा कहीं भी काव्य दृष्टिगोचर होता है। यहाँ गायन का सुख तो मिल सकता है पर काव्य का आनन्द नहीं। कविता के सौन्दर्य की जगह वहां गायन का सौन्दर्य अधिक मुखर होता है। उर्दू का एक चुटीलाशेर इस नजाकत पर अच्छा व्यंग्य करता है –

हमने तो ये समझा था कुछ शेर सुनाओगे

तुम गाने लगे गाना लाहौल बिलाकूबत

मुक्तकछन्द के प्रवर्तन ने काव्य को जहाँ नई ऊँचाइयाँ दी है अभिव्यक्ति के अधुनातन और जटिल अभिचेतना के संदर्भ में, वहीं तमाम ऐसे कवि भी पैदा किए हैं जिनके ह्दय में काव्यतत्व है ही नहीं। ऐसे कवि कविता के मर्म को बिना जाने समझे ही बड़े स्थापित कवि बन गये हैं। जबकि निराला ने परिमल की भूमिका में मुक्त छन्द के प्रवर्तन के बाद यह विचार व्यक्त किया था कि मुक्तछंद में आर्ट आफ रीडिंग यानी पाठकला का आनन्द मिलता है। निराला की बात की सत्यता मुक्त छंद में उनकी लिखी कविताएं प्रमाणित करती हैं। निराला के साथ ऐसा इसलिए संभव हो सका क्योंकि वे छोटी गोष्ठियों और बड़े कवि सम्मेलनों में समान रूप से अपनी कविताओं का कलात्मक पाठ करते थे जबकि आज के कवि जो मुक्त छंद के हैं उन्हें मंच नहीं

प्राप्त है और जो नवगीत के हैं उन्हें छोटी गोष्ठियाँ नहीं मिलती। मुक्त छंद की कविता की नियति पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशन और फिर उसका मौनवाचन ही नियति है जबकि नवगीत के लिए मंच तो है पर पत्र पत्रिकाओं में स्थान नहीं। छंद कवियों ने रचना को इतना सस्ता बना दिया कि गंभीर पत्र–पत्रिकाओं द्वारा उसकी उपेक्षा स्वाभाविक हो गई। जबकि मुक्त छंद के कवियों ने कविता को इतना जटिल और निरर्थक बना दिया कि वह जनता के बारे में लिख–पढ़ कर मुक्त छंद के कवियों ने एक स्थिति प्राप्त भी की। किन्तु नवगीतकार अपने पूर्वाग्रहों के कारण पिछड़े रहे। यहाँ तक कि गीतकार होना भी साहित्य में साहित्यकार का दोयम दर्जा पद बनता चला गया। आज नवगीतकार को कोई बड़ा कवि या विद्वान मानता हो ऐसा मुझे नहीं लगता। ऐसा होने के पीछे और भी अनेक कारण रहे। गलेबाजी चुटकुलेबाजी और फूलपत्ती, अइपन चंदन माटी उबटन जैसे शब्दों और उत्सवधर्मी दोहराव तथा समकालीन सामाजिक चेतना के अभाव तथा धार्मिकता की जकड़न से ज्यादातर गीतकार वैचारिक दृष्टि से बहुत पिछड़ गये। नयापन नदारत होता गया फलतः गम्भीर आलोचकों ने भी कविता के विमर्श के दौरान नवगीत को बाहर ही रखा।

लोकप्रियता के मोहजाल में लगातार गिरते ऐसे तमाम गीतकारों के पीछे जो चले वे सीधे गर्क में गये और उनका तो उत्थान के पहले ही पतन हो गया लेकिन सुखद यह रहा कि अनेक नवगीतकारों ने कारणों की लगातार पड़ताल की और नवगीत को एक वैचारिक स्तर देने में लगातार जुटे रहे। इन समकालीन गीतकारों ने आत्ममंथन को गति दी। नवगीत को नवीन विचार भूमि दी तथा उसे प्रगतिशील चेतना से लैस किया। ऐसे नवगीत दिखने लगे जिनमें खोयी हुई सामाजिक चेतना राजनैतिक एवं आर्थिक ऊथल–पुथल तथा समकालीन यथार्थ, घुटन, विघटन, विध्वंस और संत्रास के रेखांकन को महत्व मिला। नवगीत की जमीन अधिक ठोस और अधिक

क्षमतावाली दिखने लगी। आज विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने नवगीत की गम्भीरता और उसके प्रभाव को स्वीकार करते हुए उसे स्थान देना जोर शोर से प्रारम्भ कर दिया है। नवगीत की नयी नमीन की तलाश में ठोस यथार्थ से सीधी मुठभेड़ उसका ताकतवर पहलू है –

"राम नहीं
केवल कुहराम है
अवध में
रजवाड़ी करतब हैं
अंधी चर्चाएं हैं
परजा के नाम
दाँव पेंच की सभाएँ हैं
कुछ दंभी इच्छाएं व्यर्थ ही अकड़ती हैं।
बहसे हर रोज नई
एक जंग लड़ती हैं
सख्त बारूदी
इन्तजाम है अवध में।[1]"

समकालीन नवगीत में समयबोध, इतिहास बोध और नवीन विचारशीलता के हस्तक्षेप ने उसे अभूतपूर्व गम्भीरता और संप्रेषणीयता प्रदान की है। बड़े से बड़े संपादक तथा बड़ी से बड़ी पत्रिका ने समकालीन नवगीत को प्रमुखता देनी आरम्भ कर दी हैं। आज आधुनिक वैचारिकता से लैस समकालीन नवगीत के प्रति आकर्षण

---

१. राधेश्याम शुक्ल, भव्य भारती, अंक-७, पृ.१२

बढ़ रहा है। इनमें सत्तर के बाद के रचनाकारों का योगदान अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि इनमें समकालीनता की पहचान वैज्ञानिक रूप में विद्यमान है। यहाँ मेरे समकालीनता का अर्थ मात्र कालबोध के लिए प्रयुक्त की जाने वाली किसी भाववाचन संज्ञा के लिए नहीं बल्कि सर्जना के धरातल पर जीवंतता प्रदान करने वाली एक शक्ति और कवि के लिए एक ऐसे उपयोगी तत्व का रूप है जिसने उसकी रचना को निरन्तर नवता प्रदान करते हुए गृहीता को कृति के निकट लाने तथा आत्मीय भाव से जुड़वाने का संबल प्रदान किया है। जाहिर है कि कवि व्यक्ति के रूप में अपने परिवेश और काल से उन घटनाओं, स्थितियों, प्रवृत्तियों को सायास या अनायास ग्रहण करता हुआ अपने समय की चेतना से कुछ इस प्रकार जुड़ता है कि उसी का अंग हो जाता है और कभी वह उस प्रभाव का सहारा लेता हुआ भी उसका अतिक्रमण करके अपने कृत्य को इस तरह रूपायित करता है कि उसमें अतीत या पुरातन, समकालीन संदर्भ में नवसंस्कार आ जाता है। यहाँ वह अपनी उपयोगिता और नूतनता की ही सिद्धि नहीं करता बल्कि वर्तमान को जीने की अतिरिक्त शक्ति या ऊर्जा और भविष्य के लिए एक नवालोक का सृजन भी करता है। नवगीत के कवियों ने घटनाओं त्रासवादियों के जीवन और समाज के जटिलतम यथार्थ को रूपक, बिम्ब प्रतीकों के माध्यम से रेखांकित करने में महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की हैं –

" भीलों ने बांट लिए वन, राजा को खबर तक नहीं
एक रात काल देवता, परजा को स्वप्न दे गये
राजमहल खण्डहर हुआ, छत्रमुकुट चोर ले गए
राजा को खबर तक नहीं।[1]"

---

१. श्रीकृष्ण तिवारी – नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.१६

दरअसल विषयवस्तु की यह सांद्रता ही उद्वेलित करती है। क्योंकि विषयवस्तु का सांद्र होते होते इतना संक्षिप्त हो जाना कि प्रतीक हो जाना ही कविता हो जाना है। विषय वस्तु विचार, भाव चरित्र या घटना कुछ भी हो सकती है लेकिन जहाँ यथार्थ का वृहंत्तम संदर्भ होता है वहीं कविता श्रेष्ठतम होती है। यह यथार्थ अपने डैनों को जितना व्यापकता से घटना में फैलता है निश्चित तौर पर उतना किसी चरित्र, भाव या विचार में नहीं अतः जब कभी यथार्थ को केन्द्र में रखकर अभिव्यक्ति की जाती है तो घटनाएं ही माध्यम बनती हैं। समकालीन नवगीत की एक अलग पहचान उसकी घटनात्मकता में भी हैं, यहाँ रचना के स्तर पर जीवन में विचरती घटनाओं को एक बोध में रूपांतरित करते हुए उसके पठन के स्तर पर भी उसी बोध को घटना में रूपांतरित करके पुनः जीवन में विचरने के लिए छोड़ देना फिर घटना से घटना तक की काव्य यात्रा का संदर्भ समकालीन नवगीत को नयी यथार्थवादी भूमिका देता है। नवगीत की यह चेतना काव्य का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करती है जो विरल है –

"बहुत दिन से नहीं आये घर

कहो अनवर क्या हुआ

आ गया क्या बीच अपने

छः दिसम्बर क्या हुआ

वो सिवइयाँ प्यार से लाना टिफिन में

दस मुलाकातें हमारी एक दिन में

अरे अब चुप्पी तुम्हारी

तोड़ती जाती निरन्तर क्या हुआ?"[1]

---

१. वसु मालवीय – नवगीत शिखर–२, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.१६

यहाँ भाषा के नयेपन के साथ तार्किकता और संवेदनात्मकता के साथ ही यथार्थ का वह वृहत्तम संदर्भ भी है जो नवगीत के लिए प्राणवायु रहा है। संचार माध्यमों के हौवा युग में यह संवेदना नवीन आलोक प्रदान करती है। आज संचार और सूचना माध्यमों में क्रान्तिकारी हस्तक्षेप के बावजूद सत्य दुर्लभ है, साधनहीनता के कारण आम आदमी के लिए न्याय दुर्लभ है और निर्वाचन, नियुक्ति, वितरण, विनियोग में भ्रष्टाचार के कारण जीवनयापन दुर्लभ है। घर परिवार कार्यालय, शिक्षाकेन्द्र, सत्ता के गलियारे पूँजी प्रशासन, नेता आदि सम्पन्नता के परिसर, निवास, केन्द्र विवर कहीं भी सामान्यजन और उसके प्रतिबद्ध रचनाकार की कद्र नहीं है। सर्वत्र प्रपंच और पाखंड दिखता है एक ऐसा तिलिस्म एक ऐसी भव्यता की चकाचौंध जिसके भीतर भय और वीभत्सता के अलावा कुछ भी नहीं है। संचार माध्यम इसी वीभत्सता को छिपाने में लगे है ऐसे में नवगीत पर दबाव बढ़ा है। इसमें व्यापक सत्य की पड़ताल और प्रचलित मिथकीय मानसिकता के स्थान पर पौराणिकता का भी अनेक प्रकार से प्रगतिशील प्रयोग दिखता है। इन नवीन मिथकीय प्रयोगों ने नवगीत में समकालीन संघर्ष चेतना का नया अर्थ विस्तार दिया है :

"न्यायों की मृगतृष्णा के
प्यासे वादी–प्रतिवादी
बन्दूकों की छाया में
ऊबे–ऊबे अपराधी
तथाकथित रामों को गुहराए
आज का अजामिल।[१]"

१. वीरेन्द्र आस्तिक – नवगीत शिखर–२, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.२

यहाँ आम आदमी के दुख दर्द और त्रास को स्वयं के दुःख से अधिक महत्व देने की आकांक्षा दिखती है जबकि कहीं कहीं स्वयं के दुःख और असंतोष या पीड़ा संघर्ष को भी सार्वजनिक बनाने की कोशिशें भी होती रही हैं। समकालीन नवगीत में जनवाद का स्वर अधिक मुखर हुआ है लेकिन सौन्दर्य और संघर्ष में किसी एक की उपेक्षा अथवा अतिरेक जनवादी रचनादृष्टि के लिए आत्मघाती रही है। जनता को ऐसी रचना की दरकार होती है। जिसमें जीवन के सौन्दर्य और संघर्ष दोनों की पहचान हो। समकालीन नवगीत में एक साथ तीनों प्रवृत्तियाँ देखने को मिल रही है किन्तु जनवादी वैचारिकता को आधार बनाकर सौन्दर्य शास्त्र के अनुशासन में नया अर्थ देकर सौन्दर्य शास्त्र का जनवादीकरण समकालीन नवगीत की प्रमुख प्रवृत्ति बन रही है।

जहाँ सर्वहारा सौन्दर्य बोध प्रगतिशील रचनात्मक शक्तियों का नया और अगला प्रयोग साबित हुआ है :

"घायल ट्यूबों वाले पहियों पर
ठहरा है अपना संचार
कभी–कभी घण्टों खल जाती है
हल्के से कंकड़ की मार।[1]
कंडे बीन रही है झुनिया
देखे सूखे ताल में
आग बरसती लू चलती है
कितनी तेज नजाने
अपना काम इसे सौंपा है"[1]

१. अमरनाथ श्रीवास्तव – नवगीत, मई दस्तक, संपा.–निर्मल शुक्ल, लखनऊ, पृ.२२१

"विधवा बूढ़ी माँ ने

बात–बात पर चित हो जाती

पाँच रूपल्ली में सो जाती

जैसे इसकी माँ सोती थी

कभी पाव भर दाल में।[1]"

प्रयोग के नाम पर समकालीन नवगीत में भी अनेकानेक प्रयोग हुए हैं। ऐसर्डिटी का नवगीत पर बढ़ता प्रभाव भी ऐसे ही एक प्रयोग के रूप में देखा जा सकता है। दरअसल ऐब्सेर्ड का प्रत्यय मूलतः पाश्चात्य चिंतन की देन है। इस तत्व का मीमांसीय दृष्टि के अनुसार जीवन और जीवन् के समस्त व्यापार और जीवन के सम्बन्धित सभी मूल्य अन्ततोगत्वा निरर्थक सारहीन तथा निराधार माने जाते हैं। इसके लिए बेतुकापन सार्थक है। परिचय के अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने इस दर्शन से प्रेरित होकर अनेक प्रभावशाली रचनाएं की हैं जिनमें अल्बेपर कामू, ज्यो पाल सार्त्र, वेकेट का नाम प्रमुख है भारत में भी यह एब्सर्डिटी पहले तो फैशन और प्रयोग के तौर पर आयी किन्तु बाद में रुचने लगी :

"बीत रहा एक–एक दिन

जैसे यातना शिविर ओढ़े

सोल्जे र्नित्स

सुबह शुरू होती खांसते, शाम थूक में डूबे रास्ते

सूराखों वाले तकिए, चादर विस्तरे

रात का बदन छूते, आती है घिन[2]"

१. कैलाश गौतम, नवगीत नई दस्तक, संपा.–निर्मल शुक्ल, पृ.३७

२. सूर्यभान गुप्त – सम्यक, संपा.–मदनमोहन उपेन्द्र, पृ.२४

यहाँ किसी अदृश्य सत्ता के प्रति समर्पण का भाव अधिक मुखरित होता दिखता है जिसे भ्रम के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ ऐसे सच की पड़ताल है जो सच से कोसों दूर हैं :

"कौन है मुझमें
मुझे यों सार्थक करता हुआ
सच नहीं केवल वही
जो सामने दिख रहा
दृष्टि पथ के पार कोई है
मुझे जो लिख रहा
मौन रहकर भी
मुझे जो शब्द से भरता हुआ।" [१]

इसके अलावा समकालीन नवगीत आम आदमी के दैनन्दिनी संघर्ष के बहुत करीब भी पहुँचता है यहाँ वह जीवन की घटनाओं से टकराता है। इन घटनाओं में देश, काल, क्रिया, चरित्र, भाव विचार सब कुछ समाहित होते हैं। कभी–कभी नित्यप्रति की इन घटनाओं में घटनाओं का आभासमात्र होता है जबकि व्यक्ति को, समाज को, जनता को ये घटनाएं रन्दे की तरह छीलती चलती हैं। यथार्थ की इसी पूर्णता में बड़ा काव्य कर्म होता है। लेकिन यह व्यापक यथार्थ स्वतः ही किसी बड़े काव्य कर्म को जन्म नहीं देता उसे तो सौन्दर्य शास्त्रीय अपेक्षाएं भी पूरी करनी होती है। एक भिन्न दृष्टि से देखे तो आज भारतीय काव्य का एक चक्र पूरा हो चुका दिखता है। यानी हवा, पानी, पेड़, प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष को रेखांकित करने वाला

---

१. सत्यनारायण – नये पुराने, संपा. – दिनेश सिंह, अंक–५, पृ.११२

वैदिक काव्य, सामन्ती व्यवस्था के दौर की मानुषी चरित्रों की प्रधानता वाला काव्य, मध्यकालीन ईश्वरीय शक्ति भक्ति केन्द्रित काव्य के बाद पुनर्जागरणकालीन भिन्न चरित्र प्रधान काव्य और फिर आज की यथार्थवादी काव्य दृष्टि का नया दौर। समकालीन नवगीत इसी नवीनतम बिन्दु पर खड़ा है :

"भैंगी आँखे ढुलमुल नजरें
हर चितवन पर 'वाह–वाह' को
क्या कह दूँ ऐसी निगाह को
कोर्ट कचहरी टँगे मुकदमें
हत्या–लूट–जिना की हद में
एक गवाही फांस बन गई
सही फैसले के मकसद में
नौ नौ हाथ तमंचे उछले
टेंटे गठियाये गवाह को।"[१]

एक मत यह भी रहा है कि समकालीन नवगीत का चरित्र मुख्यतः ग्रामीण परिवेशधारी है। जिसमें मुख्यतः गाँव तथा आदिवासियों के जीवन को भारतीय प्रतीकों के माध्यम से चिन्हित और अभिव्यक्त करने की ललक की प्रधानता है। यह मत एक हद तक ही सही है नईम, देवेन्द्र कुमार, ओम प्रभाकर, गुलाब सिंह, अनुप अशेष, माहेश्वर तिवारी आदि ने निश्चित तौर पर लोकजीवन के यथार्थ को सूक्ष्मतम और सघनतम अभिव्यक्ति दी जहाँ भारतीय ग्रामीण जीवन और भारतीय संस्कृति के प्रति गहरा लगाव दिखता है लेकिन इन लोगों ने केवल ग्रामीण चेतना को ही स्वर दिया

१. दिनेश सिंह – नये पुराने, संपा. – दिनेश सिंह, अंक–५, पृ.२१२

ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन गीतकारों में रूढ़ियों, बिडम्बनाओं, यातनाओं के प्रति गहरा विक्षोभ दिखाई पड़ता है। समकालीन नवगीत का स्वीकृत स्वरूप उसके यथार्थवादी दृष्टिकोण में ही है चाहे वह यथार्थ ग्रामीण हो या शहरी। समकालीन नवगीत ने गाँव शहर का विभेद किये बिना जीवन, समाज और समय के हर पक्ष को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है और अपने आपकों समकालीन कविता के समक्ष ला खड़ा किया है। शिव बहादुर सिंह भदौरिया, बुद्धिनाथ मिश्र, जयकृष्ण तुषार, विनोद श्रीवास्तव, योगेन्द्र दत्त शर्मा, विनोद निगम, देवेन्द्र कुमार आर्य ने यथार्थ से सीधे टक्कर लिया है। ओम प्रभाकर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, अमरनाथ श्रीवास्तव, यश मालवीय, कुमार रवीन्द्र, रामसेंगर, माहेश्वर तिवारी, गुलाबसिंह अनूप अशेष, उमाशंकर तिवारी, रवीन्द्र भ्रमर, नीलम श्रीवास्तव, रामचंद्र, चन्द्रभूषण कैलाश गौतम, सुरेश, राजेन्द्र गौतम, अखिलेश कुमार, जहीर कुरेशी, जगदीश श्रीवास्तव, सुरेन्द्र काले, दिनेश सिंह आदि ने समकालीन यथार्थ की व्यापक पड़ताल की है। समकालीन नवगीत ने शंभूनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, भारती, डॉ. जगदीश गुप्त, उमाकांत मालवीय की जमीन को नये रचनात्मक आयाम दिए हैं। यहाँ सामाजिक यथार्थ से सीधे साक्षात्कार मिलते हैं।

समकालीन नवगीत ने अपनी पूरी सामर्थ्य से नवीन संवेदनों और अनुभवों को मार्मिक ढंग से जनता तक पहुँचाने की पहल की है। इसमें करूणा की आर्द्रता संघर्ष की दीप्ति में बदली है। यहाँ अपेक्षाकृत बर्हिमुखता की जगह एक काव्योचित स्पष्टता आई है। पिछले दशक में प्रकाशित तमाम नवगीत संग्रहों तथा काव्य के विशेषांकों में जीवन के बहुआयामी अनुभव खण्डों को सृजनात्मक स्तर पर उतारने की कोशिश बढ़ी है और लोकसापेक्षता और वामदृष्टि के साथ सोच के आयाम में भी उदारता और विविधता आई है। जीवन का वैविध्य उसका राग, शोक, उत्सव, कर्म, दर्शन, प्रकृति,

द्वेष, शोषण, साहचर्य, स्वभाव, उत्कर्ष, अपकर्ष, बदलाव, संक्रमण, सफलता, असफलता, तात्कालिक समस्या सभी कुछ यानी की समूचा जीवन समकालीन नवगीत की परिधि में आया है और जन में इसकी भागीदारी संभव हुई है। नवगीत बीते दिनों में लौटकर अपने स्वरूप में वर्तमान लेकर प्रवेश कर रहा है उसमें जनमन में विवेक प्रतिरोध, उत्कर्ष की शक्तियों को विकसित करने की सही प्रक्रिया बढ़ी है।

"ऐसा भी नहीं है कि सीमित अनुभव, विचार, अध्ययन, शिल्प की गुंजलक और किताबी जुमलों वाले उबाऊ और फीके नवगीत नहीं लिखे जा रहे है जहाँ मात्रा तुक और मुठ्ठी भर शब्दकोष के बूते नवगीत का कागजी पहाड़ आकर्षक ढंग में खड़ा किया जा रहा है किन्तु समय की बारिश शायद ही यह झेल पाये अतः उसकी चिंता बेकार है। इधर स्थापित गीतकारों में भी आत्ममंथन और पुनर्विचार का जो दौर चला है उसने उसके विचार सोच और चिंतन प्रक्रिया को क्रान्तिकारी प्रगतिशील और जनवादी आधार दिया है। वह अपने समय की सघनतम अनुभूतियों और विद्रूपताओं को सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति देने में जुट गया है। उसने स्वतः नवगीत की रूढ़ पौराणिकता को तिलांजलि देकर प्रगतिशील जनवादी चेतना का वरण किया है। यश मालवीय, दिनेश सिंह, कैलाश गौतम की रचनाप्रक्रिया और परिवर्तन में इसकी झलक देखी जा सकती है। वामपंथी विचारधारा के प्रति घोर कट्टरता न होने के बावजूद इन गीतकारों का चिंतन लोकपक्षी और जनवादी है। इन्होंने सर्वहारा सौन्दर्यबोध, प्रगतिशील रचनात्मक शक्तियों के प्रयोग को नई दिशा दी है। वे खोखले मानवतावादी जगदीश गुप्तीय कलाबोध और आधुनिकतावादियों के अभिजात सौन्दर्यबोध या विरूपण के सौन्दर्यबोध को चुनौती देते हैं।"[१]

---

१. समकालीन नवगीत, आलेख, श्रीरंग – नये पुराने, १९९९, पृ.११७

जनवाद लोक संस्कृति का संवाहक रहा है। जबतक यह जनवाद साहित्य सृजन की एक निश्चित सोच से जुड़ा रहा, इसका सरोकार आम आदमी के सहज संवेद्य जीवन के विविध पड़ावों से संलग्न रहा किन्तु जैसे ही नवगीत का कथ्य जनवाद की जमीन से कुछ ऊपर उठा कि अभिजातीय परितृप्त सौख्य के तमाम ताम–झाम इसमें सम्मिलित होने लगे। कुमार रवीन्द्र के अनुसार – वस्तुतः हर विधा के जीवनकाल में ऐसी स्थितियाँ आती हैं, जब उसे अपने समय के रू–ब–रू अपने को पुनः परिभाषित करना पड़ता है। ऐसे में उसमें जो अन्तर्विरोध उपजते हैं, उनसे भी उसे जुझना पड़ता है। पांचवें दशक में हिन्दी कविता में जो बदलाव आए, उन्हीं से नई कविता और नवगीत का वह अन्तर्द्वन्द उपजा, जिसने उन्हें एक दूसरे के समानान्तर विलोम स्तर के रूप में प्रस्तुत होने को बाध्य किया। दुर्भाग्य से हिन्दी कविता का यह अन्तर्विरोध आज भी उसके समग्र आकलन में बाधक है। नई कविता के पुरोधाओं के इस दुराग्रह से कि गीत की आधुनिक जीवन के जटिल अभिप्रायों को व्यक्त करने की दृष्टि से प्रासंगिक नहीं रह गया है, 'नवगीत'–प्रसंग उपजा। इसी कारण उसमें एक प्रतिक्रियात्मक ग्रंथि काफी लंबे समय तक बनी रही। 'नवगीत – के सरोकार एवं आग्रह भी लगभग वही रहे हैं।, जो 'नई कविता' के हैं, इस नाते दोनों एक–दूसरे के पूरक काव्य हैं। सदी के अंतिम क्षणों में इस बात की बड़ी आवश्यकता हैं कि कविता का समग्र आकलन किया जाए और विदूषित एवं असंतुलित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का पुनर्वीक्षण किया जाए। गीत–काव्य की सामर्थ्य पर उठी सभी शंकाओं का नवें दशक और बाद के नये गीत ने जिस पैनेपन से उत्तर दिया है, उसे यहाँ दोहराना जरूरी नहीं है। यह अब सर्वमान्य है कि छंद काव्य की सीमा न होकर उसकी सामर्थ्य ही होता है। छंद के माध्यम से वह सब तो कहा ही जा सकता है, जो छंदेतर कविता में कहा गया है या कहा जा सकता है। छंद में इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है, जो

छंदेतर कविता में व्यक्त नहीं हो पाता। और यह भी कि छंद भी प्रयोगधर्मी हो सकता है। जिन अभिप्रायों से नवगीत का पिछले एक दशक में सबका हुआ है, उनके रहते उसके अर्थातों एवं स्वरूप में भी अन्तर आया है, इसमें कोई दो राय नहीं है। नवगीत मूलतः भारतीय जाति-बोध एवं अस्मिता का काव्य रहा है। यह जातीय बोध अधिकांशतः परंपरा-प्रिय एवं ग्रामीण लोक-संचेतना से संदर्भित रहा है। साथ ही उसका स्वर विरोधी एवं नकारात्मक भी रहा है। अस्वीकार के इस प्रधान स्वर के तहत नवगीत में उल्लास और उत्सवी मनस्थितियों की अभिव्यक्ति कम ही हो पाई है। किन्तु इधर के गीतों में कुछ दिशा-परिवर्तन के संकेत मिले हैं। इन परिवर्तनों की पड़ताल करना ही इस आलेख का प्रमुख अभिप्राय है।

आज के सामाजिक यथार्थों के संदर्भ में ग्राम-बोध, नगर-बोध, आधुनिकता-बोध, जाति-बोध, लोक-संपृक्ति जैसे सोच बेमानी हो गए हैं। वैश्विक अर्थ-तंत्र के दबावों के तहत पूरी मानवी अस्मिता ही खतरें में पड़ गई है। वर्तमान सभ्यता की विगंतियों, विश्व की आर्थिक शक्तियों के नव-उपनिवेशवादी छल-छंद, मशीनीकरण और कम्प्यूटरीकृत होती विश्व-व्यवस्था के अंतर्गत मानव के संवेदनशून्य हो जाने का जो संकट, आज हैं, वह पहले नहीं था। आज का गीत इन प्रश्नों से जूझने को पूरी तरह प्रस्तुत है। साथ ही वह मानव-जिजीविषा के उन श्रोतों की भी खोज में हैं, जिनसे बदली परिस्थितियों में नए मानव-मूल्य और मानव-अस्मिता की नई कसौटियाँ भी गढ़ी जा सकें। पुरातन और नवीन के संधि-स्थल पर खड़े आज के गीत में पुरातन के प्रति मोह अभी पूरी तरह समाप्त तो नहीं हुआ है और जो होना भी नहीं चाहिए। किंतु नवीन के प्रति आशंका का भाव, जो अभी कुछ समय पहले तक उसमें प्रमुखता से उपस्थित था, कम हुआ है। नया गीत एक ऐसी भाव-भूमि पर खड़ा है,

जहाँ मानव–मन के उत्सवी क्षणों का पुनरूत्थान संभव है। महेश अनघ का एक गीत अभी पिछले दिनों ही आया है, जिसमें गीत का यह आग्रह मुखर हुआ है –

"आग से गुजरो
बचा कर इत्र भींगा खत
तुम्हें सौगंध कविता की
हारना भी मत
समय को मारना भी मत
तुम्हें सौगंध कविता की।
गीत शहज़ादा नहीं है एक नन्हीं जान है
इधर आँसू उधर आँसू बीच में मुस्कान है
तन महाभारत
मगर भीतर रहे अक्षत
तुम्हें सौगंध कविता की।"[१]

गीत में कविता के प्रति यह अपराजेय आस्था का स्वर मुझे नया लगा है। ऐसी ही सत्यनारायण के इधर–आए एक गीत की इन पंक्तियों में भी व्यक्त हुई हैं –

"पत्तों से हरियाली
टहनी से
थिरकन की भाषा
और जड़ों में
मिट्टी में जीने की

१. महेश अनघ, उत्तरायण, संपा.–निर्मल शुक्ल, लखनऊ, अंक–१३, पृ.५२

गहन पिपासा

साथ छोड़ देंगे सब

फिर भी

कोई डाली झुक कर

मुझे थाम ही लेगी.....!"[1]

श्रीकृष्ण तिवारी के गीत की ये पंक्तियाँ भी इसी स्वर को मुखर करती हैं –

"सुन रही हो यदि मुझे तो

ओ दिशाओं !

प्यास कैसी भी, उसे मरने न दो

बल्कि उसकी कोख में जो

पल रही है पीर

उसको जन्मने दो......!"[2]

मानव–मन की यह प्यास ओर उसकी कोख में पल रही पीर ही तो नये मानव–मूल्य को जन्म देगी। किंतु इसके लिए अतिरिक्त सावधानी से अमृत–तत्वों को पोसना होगा, जैसा कि **मुकुट सक्सेना** ने इन पंक्तियों में कहा है –

"सूर्यमुखी सपने हैं

चन्द्रमुखी आस्थाएँ

देखना इन्हें कहीं ग्रहण नहीं लग जाएँ

पारिजात बोए तो जल भी देना होगा

---

१. सत्यनारायण – सम्यक, संपा.–मदन मोहन उपेन्द्र, अंक–११, पृ.९

२. श्रीकृष्ण तिवारी, वही, पृ.१७

ऋतुओं के परिवर्तन को भी सहना होगा

बीज वृक्ष बनने तक

ओ मेरे वात्सल्य !

देखना इन्हें कहीं ताप नहीं झुलसाएँ"[१]

पूजा और त्यौहार होने की यही जिजीविषा दिनेश सिंह की इन पंक्तियों में व्यक्ति हुई है –

"माँ के मन फुलवारी होगी

लहकी क्यारी–क्यारी होगी

देहरी के आसन पर पंडित

गोबर के गोबरधन होंगे

पूजा की तैयारी होगी

माँ के मन फुलवारी होगी.....:"[२]

एक नई आशा, एक नए विश्वास, आगत भविष्य के प्रति एक नई आस्था का स्वर इधर के गीतों में सुनाई दिया है और शंका का कुहासा कुछ कटा है। विनोद श्रीवास्तव का इन्हीं दिनों आया गीत इसी दृष्टि का जयगान करता है –

"आयेंगे

शुभ दिन भी आयेंगे

रची–बसी आदिम उपहारों से

पृथ्वी यह कितना कुछ देती है

---

१. श्रीकृष्ण तिवारी, नवगीत दशक–२, संपा.–शंभुनाथ सिंह, पृ.४८

१. मुकट सक्सेना, अभिव्यक्ति, कोटा, संपा.–महेन्द्र नेह, पृ.१३

शुद्ध राग भरती है प्राणों में

सारा कोलाहल पी लेती है

छायेंगे मेघ–मधुर छायेंगे

जहाँ रेत, जीवन बरसायेंगे......"[1]

आगत शुभ दिनों का यह स्वागत–गान उस नई इच्छा–शक्ति से उपजा है, जो जीवन के नित–नूतन होते पर्व से जुड़ी है। यही कविता में तात्कालिक के सार्वकालिक होते रहने का रहस्य है। इसमें दुविधा के लिए, अस्वीकार के लिए कोई जगह नहीं है। इसी आस्थावान इच्छा से भरकर इन पंक्तियों के लेखक ने भी इन्हीं दिनों कहा है –

"फिर होंगे हम स्वप्नशील, यह निश्चित है

होंगे वंशी–धुन करील, यह निश्चित है

पिघलेगी यह जमी झील, यह निश्चित है।"[2]

विगत या आगत में से कुछ तो चुनना होगा ही। किसे चुनें यह हमारी समझ पर निर्भर है। भाई छविनाथ मिश्र का इधर का एक गीत इस प्रश्न को प्रस्तुत करता है –

"नई रोशनी से मुँह धो लें

लौट चलें– या आगे हो लें

उधर विलम्बन, इधर त्वरा है,

विगत पंगु, आगत अंधरा है।"[3]

नई रोशनी से मुँह धोने के आग्रह से जुड़ा है व्यक्तिगत जिजीविषा का प्रश्न। वस्तुतः व्यक्तिगत जिजीविषा और सामाजिक जिजीविषा में कोई भेद नहीं होता। व्यक्ति

१. विनोद श्रीवास्तव, नये पुराने, अंक–१९९९, पृ.२७

२. वही, पृ.८८

३. छबिनाथ मिश्र, पृ.४०

के मन का उल्लास ही तो सामूहिक उल्लास में परिलक्षित होता है। व्यक्तिगत रागानुरागों, व्यक्ति में उपजी आस्थाओं–अनास्थाओं से ही तो वह सामाजिकता बनती है, जिसके सम–विषम स्वर कविता में मुखर होते हैं। भाई अवधबिहारी श्रीवास्तव के इधर के गीतों में व्यक्ति और समष्टि का यह सामंजस्य सबसे अधिक सार्थक रूप में उपस्थित हुआ है। उनके एक लंबे गीत का एक पद देखें –

"नन्हें हाथ जहां लोहे के फूल खिलाते हैं,
जिनकी नींदों में रोटी के सपने आते है
जिनकी पीठों की कालीनें बिछाने जाती है
चांदी की चाबुकें जहाँ सर पर मँडराती हैं
कूड़े पर रोटी तलाशता बीत रहा बचपन
उन्हें देख कर अपनी ही कविता की छाती से
उतरा हुआ दूध बन कर मैं ही तो आता हूँ
तुमने पूछा गीत हमारे कैसे आते है
ठहरों माँ के थके पांव धोकर बतलाता हूँ।"[१]

मां के थके पाँव धोने के बिम्ब के साथ उसके ऊपर के समष्टिगत चेतना के बिंबों को कैसी सहजता से संजोया गया है, यह द्रष्टव्य है। इस गीत में जगह–जगह पारिवारिक–निजी रागानुरागों के बिम्बों को आर्थिक–सामाजिक–राजनीतिक प्रश्नों के बरक्स रख कर व्यष्टि समष्टि को बड़ी सफलता से एक साथ समोया गया है। ऐसा ही एक सहज उल्लास का चित्र उनके एक अन्य गीत में भी बड़ी सार्थक अभिव्यक्ति दे गया है। एक ओर है कूड़ा बिनती लड़की के अभावग्रस्त जीवन का चित्र,

१. अवध बिहारी श्रीवास्तव, भव्य भारती, अंक–४, पृ.१८

जो सामाजिक संदर्भों के प्रति आक्रोश की सृष्टि करता है –

"दो दिन से बरसात हो रही

दो दिन से घर भर का फांका

कोई दिखा नहीं टीवी में

दावत खाते लोग दिखे

लड़की गुस्से में पागल हो

घर में पत्थर धरने निकली"[१]

दूसरी ओर उसी के साथ है एक अत्यंत निजी एकांतिक अनुराग का चित्र –

"बीड़ी पीता हुआ छोकरा

'लाल रिबन' देकर भागा है

पिल्ले को सहलाती लड़की आसमान में उड़ने निकली।"[२]

सहज अनुराग की इस उड़ान में अंतःपुरी श्रृंगार से अलग एक सहज उल्लास की उद्‌भावना हुई है, जो इस गीत की पारंपरिक संरचना के बावजूद इसे पारंपरिक गीत से बिलगाती है। एक तटस्थ निजता इसे गलदश्रु चेतना से अलग करती है। यही तटस्थ निजता आज के गीत की पहचान है।

इधर कुछ समय से नवगीत पर एक नया आरोप आयद किया जा रहा है कि नई कविता के समकक्ष आने की फिराक में वह गीत के मूल तत्व और भारतीय काव्य की मौखिक–द्रव्य रागात्मक परंपरा से कट गया है और यह भी कि वह अतिरिक्त रूप से बौद्धिक और दुरूह हो गया है। साथ ही यह भी कि नवगीत अब अपने को दोहरा रहा है और उसमें नई संभावनाओं को तलाशना व्यर्थ होगा। एक नई साजिश के तहत

१. अवध बिहारी श्रीवास्तव, भव्य भारती, अंक–४, पृ.२२

२. वही, पृ.६९

यह आरोप इस बार उन शुद्ध मंचधर्मी गीतकारों और उनके सहायक कुछ विश्वविद्यालयीय समीक्षाकर्मियों की ओर से आया है जो 'नवगीत' के रूप में गीत के इस निरन्तर समृद्ध होते विकास से अपनी ही सीमाओं के कारण हाशिए पर रह गए थे। यह सच है कि रागात्मकता किसी भी गीत का प्राण–तत्व है। नवगीत में बौद्धिकता भी इस मूल रागात्मकता से संयुक्त हो कर ही आई है। जहां तक व्यक्तिगत रागात्मकता का प्रश्न है, वह नवगीत के माध्यम से संभवतः उतनी व्यक्त नहीं हो पाई है जितनी उत्तर–छायावाद काल के गीतों में हुई थी। किंतु समष्टिगत रागात्मकता नवगीत में सदैव ही उपस्थित रही है। श्रृंगार उसमें नहीं है। इधर कुछ प्रणय–गीत आए हैं, जिनमें व्यक्तिगत रागात्मकता की अभिव्यक्ति भी बड़े शुष्ठ एवं सबल रूप में हो सकी है किन्तु यह रागात्मकता सामाजिक सरोकारों से व्यक्ति के पलायन से नहीं उपजी है। **बुद्धिनाथ मिश्र** के कई प्रेम–गीत इन्हीं दिनों आए हैं, जिनमें इस शुद्ध स्वस्थ निजी रागात्मकता की प्रस्तुति हुई है –

" मैंने युग का सारा तमस पिया है, सच है

लेकिन तुमसे प्यार किया है, यह भी सच है"[१]

जीवन में युग के तमस और व्यक्तिगत अनुराग दोनों की समानान्तर उपस्थिति आवश्यक है। इसी से वह संस्कार संभव है जो श्रृंगार को एक पावन पर्व बनाता है –

" आज पहली बार खुल कर मिले मुझसे,

शंख, सीपी और सरसों फूल

आज बारंबार तुमसे जिया मैंने

सुबह काशी की, अवध की शाम"[२]

---

१. बुध्धिनाथ मिश्र, सम्यक, संपा.–मदन मोहन उपेन्द्र, अंक–१२, पृ.११

२. वही, पृ.१२

ऐसे ही शिष्ट श्रृंगार में काशी की सुबह की पवित्रता और अवध की शाम की उद्याम लालसा एक साथ संभव हो पाती है। ऐसे ही आदिम संयोग श्रृंगार के क्षण यश मालवीय की इन पंक्तियों में भी उपस्थित है। किन्तु शालीनता एवं शिष्टता की परिसीमा के अन्दर ही –

"पोंछ कर तन
चांदनी के तौलिए से
तुम नहा कर पास आई
रात के दूजे पहर
एक कनखी से तिमिर की स्लेट पर
तारीख डाली
देह भाषा हुई क्षण भर
आहटों ने भी विदा ली
पर्व के क्षण
रोशनी के शावकों से
आ गए फिर घाटियों में
गंध की सीढ़ी उतर"[1]

चाँदनी के तौलिए से तन को पोंछने, कनखी से तिमिर स्लेट पर तारीख डालने, क्षण भर देह के भाषा होने और पर्व के क्षणों के रोशनी के शावकों की तरह गंध सीढ़ी उतरने के कोमल बिंबों से गीतकार ने संभोग श्रृंगार की अनूठी सृष्टि इन पंक्तियों में की है। प्रसंगवशात् मानव–मन के इस उत्सवी स्वरूप को अपने इधर के

१. यश मालवीय, ज्ञानोदय, संपा.–प्रभाकर श्रुतिय, अंक–४२, पृ.६७

कई गीतों में अभिव्यक्ति दी है। एक गीत की इन पंक्तियों पर ध्यान चाहूँगी –

"कैसा सुख था
जैसे ही हम बाहर निकले
वैसे ही बरखा आई
सड़क–दर–सड़क सारे रास्ते
रहे भीगते हम दोनों
जलतरंग हो कर बजने में
कभी नहीं थे कम दोनों
तुम्हें याद है
'मां की ब्रिज' वाले ठले से
हमने थी कुल्फी खाई?"[१]

अन्यान्य रागात्मक प्रसंगों को भी आज के गीत में काफी सशक्त एवं विशद अभिव्यक्ति मिली है। स्वप्नशील होते मानव–मन के संदर्भ कभी भी पुराने नहीं पड़ते। ऐसा ही एक प्रसंग प्रस्तुत हुआ है **अनूप अशेष** की इन पंक्तियों में –

"एक महक सोधी मिट्टी की, एक महक / बौछार
एक महक बांधे / गमछे में, कच्चे घर की हार
एक महक कच्ची रोटी की, एक महक खलिहान
एक महक पल्लू में खोंसी, टूटी–सी मुस्कान"[२]

१. दिनेश सिंह, नये पुराने, अंक–१९९९, पृ.९
२. अनुप अशेष, वही, पृ.४७

ग्रामीण परिवेश की विविध महकों के मोहक बिंबों के साथ घर के हारने और मुस्कान के टूटने को भी संजोता यह गीत जीवन का एक समग्र प्रारूप प्रस्तुत करता है।

ऐसा ही एक जीवंत रोमांस का चित्र गुलाब सिंह की इन पंक्तियों में भी उपस्थिति हुआ है –

"झुकते–झुकते
एक टहनी झुक गई
चलते–चलते
एक लड़की रूक गई
भीड़ ने देखा, कहा–
यह फूल है, वह फूल है
मुँह–अंधेरे एक सपना
हाथ से छूटा
ओस–धोई सड़क पर
शिशु पी रहा अपना अंगूठा
भीड़ ने देखा, कहा–
यह भोर है, वह भोर है"[१]

शब्दों में भी रस होता है, बशर्ते वे जीवन के रोमांस से जुड़े हों। शब्दों की रसवंती उद्‌भावना माहेश्वर तिवारी की इन पंक्तियों में अनूठी बन पड़ी है –

१. गुलाब सिंह, नये पुराने, संपा.–दिनेश सिंह, अंक–१९९९, पृ.५०

"बतियाहट में

हम ही नहीं

शब्द भी रस लेते हैं

सबसे उनका / रिश्ता–नाता

सबके / संग उनका / निभ जाता

बोल–बात में

जब–तब खिसिर–खिसिर

वे हँस लेते हैं"[1]

जीवन के स्वीकार के ये स्वर इधर के गीतों में अधिक स्पष्ट रूप से सुनाई दे रहे हैं।

रोमांटिक मोहभंग और अस्वीकार के गीत नवगीत परंपरा में सर्वाधिक हैं। यह मोहभंग व्यवस्था से सामाजिक परिवेश से, स्वयं से, अन्यों से, कई बार संपूर्ण जीवन से होता रहा है। पर इधर के गीतों में यह स्वर आक्रोश में बदल रहा है। इस आक्रोश के दो रूप हैं–एक है यथास्थिति के प्रति एक समालोचन दृष्टि, जिसमें आक्रोश व्यंग्य में बदल जाता है और दूसरा है शुद्ध क्रांतिकारी आह्वान का स्वर। यहां तीन उदाहरणों के माध्यम से इस आक्रोश की तीन पंक्तियों की प्रस्तुति मैं कर रही हूँ –

(एक) सहज व्यंजना :

" नीति / तुम्हारी दोहरी इन्दर

दो हैं तेरे रूप

आधे आँगन / पानी बरसे

१. महेश्वर तिवारी – युगीन काव्या, संपा.–हस्तिमल हस्ती, मुंबई, अंक–१७, पृ.२४

आधे आंगन धूप

हम तो वैसे के वैसे हैं

सदियाँ बदल गईं

पोखर के हिस्से का पानी

नदियां निगल गईं

सबको तृप्ति बांटने वाले

पड़े उपेक्षित कूप"[१]

(दो) व्यंग्य :

"अपनी बौनी, सोचों का हम

किस पर दोष मढ़ें

भाव सातवें / राहु बिराजे

कैसे शुभम् पढ़े

अवमूल्यों को

ओढ़े फिरते

जड़ें काट कर जीते

कामधेनु पय / ढरका करके

वे मादक रस पीते

कदम पड़ रहे / नीचे पर

मन में कैलाश चढ़े"[२]

---

१. विनय भदौरिया, नवगीत नई दस्तक, संपा.-निर्मल शुक्ल, पृ.७७

२. वृजनाथ श्रीवास्तव, वही, पृ.८०

(तीन) क्रांतिकारी आह्वान :

"कुछ कहो मत,
किंतु ऐसे चुप रहो मत।
दर्द है / तो कुछ कराहो,
दुखी हो / आँसू बहाओ
क्षोभ है चीखो
मगर तुम इस तरह भीतर दहो मत।
भीड़ का / आक्रोश बन उभरो
लेकिन यों अकेले
तुम सलीबों को सहो मत।"[1]

क्रांतिधर्मी आक्रोश का यह स्वर मझ नया लगा है और यह स्वर इधर के गीतों में आए 'टोन' को बदलाव को संकेतित करता है। यही क्रांति-दृष्टि अखिलेश कुमार सिंह के इधर के एक गीत में भविष्योन्मुखी आशा का स्वर बन कर उभरी है :

"बात करता
दूर से आती हुई
तेज बंजारन हवाओं से
सूर्य का खत बांटने निकली
धूप से, चारों दिशाओं से
आस के अनगिन नये
अँखुए उगाता, नीम का यह पेड़"[2]

१. श्रीकृष्ण शर्मा, नये पुराने, अंक-१९९९, पृ.८७

२. अखिलेश कुमार, वही, पृ.६९

जिजीविषा का यह जुझारू स्वर आज के गीत को नया पैनापन प्रदान करता है। मिथक का निर्माण श्रेष्ठ काव्य की एक मानक कसौटी है। इस दृष्टि से भी आज का गीत अधिक समृद्ध दिखाई देता है। काव्य में मिथक का प्रयोग दो प्रकार से होता है। एक तो प्राचीन मिथकों की नए संदर्भों में पुनर्व्याख्या से, जिससे उसमें नए, अर्थ जाग्रत होते हैं। दूसरे नए परिवेश एवं संदर्भों के अनुरूप नए मिथकों की निर्मित से, पारंपरिक मिथकों के प्रयोग से सर्जना के नए आयाम प्राप्त करने की कोशिश नई नहीं है। किंतु उसमें नए अर्थों को तलाशने की प्रवृत्ति नई कविता एवं नवगीत के प्रादुर्भाव से ही हुई है। नए मिथकों की रचना वैसे तो समय–सापेक्ष होती है, किंतु जब वे सार्वकालिक अर्थातों से जुड़ जाते हैं, तो उन्हें कालातीत अर्थवत्ता प्राप्त हो जाती है, नवगीत में पुरातन मिथकों की उपस्थिति तो रेखांकनीय रही है, किंतु नए मिथकों की दृष्टि से संभवतः इसका अवदान उतना समृद्ध नहीं रहा है। फिर भी इधर के कुछेक गीतों में कुछ अन्यन्त सफल मिथकों की संरचना हुई है। विष्णु विराट चतुर्वेदी की इन पंक्तियों में कई मिथकों की एक साथ संयुक्ति हुई है :

"एक राजा

हाथ में तलवार लेकर

घूमता है वन–विजन में हड़बड़ाता

स्वयं की परछाइयों से खौफ् खाता

एक निशिचर –

लांघ कर मरजाद अपनी

फाड़ कर मुँह बस्तियों तक चला आता

एक सन्नाटा शहर में फैल जाता।"[1]

१. विष्णु विराट, नये पुराने, अंक–१९९९, पृ.४७

इसी तरह का मिथकीय बिंब रचा है बुटुक चतुर्वेदी ने अपनी इन गीत–पंक्तियों में :

"दादा नंगे पांव
देखते रहे उम्र भर
सपने जूतों के
दादी रहीं माँजती बर्तन
जमींदार से कई निपूतों के
दोनों की हसरतें टंगी हैं
उसी अलगनी पर
टंगते आए जिस पर सपने/कई पीढ़ियों के"[१]

अथवा प्रमोद उपाध्याय की इन पंक्तियों में :

"शिल्प–ग्राम की / प्रदर्शनी में
रखे गए हैं लोग
रेस्तरां के / शो केसों में
चखे गए हैं लोग
कसे हुए–से
फटे हुए / जूतों के फीते हैं, और ....
दर्पण से मुठभेड़ों में / मारा जाना, और ....
पुस्तक के पाठों में बच्चे / ढूंढ़ रहे हैं घर......."[२]

---

१. वटुक चतुर्वेदी, नये पुराने, अंक–१९९९, पृ.२७

२. प्रमोद उपाध्याय, वही, पृ.३१

नईम के गीतों में मिथकीय-संरचना के कई संदर्भ मिलते हैं, उनकी ये पंक्तियाँ इस दृष्टि से उनकी इस सामर्थ्य को संदर्भित करती हैं :

"कहते जिन्हें कनेर

कभी वे कर्णिकार थे

वर्ण-व्यवस्था में

ऊंचे होते शुमार थे ....

और...... रावण ही रह गए आज प्रभु को उपासने ....''[1]

उमाशंकर तिवारी की इन पंक्तियों में भी एक नए मिथक की रचना हुई है :

"हमारे पास आ कर सभ्यताएं खिलखिलाती हैं

कई अनजान क्षितिजों की दिशाएं ढूंढ़ती लय हैं ....

सभी की दास्ता हूं मैं

धनुष हूं सात रंगों का

गुजरता कारवाँ हूं मैं''[2]

नीलम श्रीवास्तव की इस पंक्ति में भी मिथकीय निर्मित के संकेत हैं :

" बांस का जंगल खड़ा

बाँसुरी बजती नहीं है

आग भी लगती नहीं है

एक झीना स्याह बादल

धूप के आगे अड़ा है ....''[3]

१. नईम, उत्तरायण, संपा.-निर्मल शुक्ल, अंक-१३, पृ.२६

२. उमाशंकर तिवारी, भव्य भारती, अंक-५, पृ.१८

३. निलम श्रीवास्तव, वही, पृ.२१

प्राचीन मिथकों की अर्वाचीन प्रसंगों से संगति की दृष्टि से संभवत देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के गीतों की संख्या सर्वाधिक है, 'दिन पाटलिपुत्र के' उनके गीत इस बात के गवाह हैं, इधर के उनके गीत की इन पंक्तियों में भी यह संगति दिखती है :

"उज्जयिनी के राजमार्ग पर
भटके चन्द्रापीठ
राजा की दुर्गति कौतुक से
देख रही है भीड़
आंधी में
पत्तों से उड़ते
सपने गौतम बुद्ध के
महाकाल के मन्दिर के
घण्टे बजते हैं युद्ध के........"१

माहेश्वर तिवारी के इन्हीं दिनों आए कई गीतों में मिथक–प्रसंगों का बड़ा सहज और सार्थक प्रयोग हुआ है दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :

"जले–अधजले / भोजपत्र
उड़ रहे हवाओं में
गंध उन्हीं की / है फैली, हर ओर दिशाओं में
बूट पहन
कोई सपनों का, रोज कुचलता है"२

---

१. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' – दिल पाटिलपुत्र के, काव्य संग्रह, पृ.३२

२. माहेश्वर तिवारी, वही, पृ.३५

इस गीत में जल–अधजले भोजपत्रों और बूट–तले सपनों के रौंदे जाने की अभिव्यंजना अत्यंत मार्मिक बन पड़ी है। इसी तरह उनके एक अन्य गीत में कालिदास के मेघदूत–प्रसंग की वर्तमान स्थिति से बड़ी सटीक संगति हुई है :

"कालिदास, अब भी
उज्जयिनी में / रहते हैं
देख रहे हैं / सब कुछ
लेकिन
कुछ भी, कभी नहीं कहते हैं
मेघदूत आते हैं / अब भी
शब्द मौन हैं, बानी चुप है।"[१]

गुलाब सिंह के इधर के एक गीत में मिथकीय प्रयोग दृष्टव्य हैं :

"आदमीयत त्रस्त
कातर पांचाली
नहीं देखी गई
पंचों की कभी ऐसी प्रणाली
शब्द हैं निरूपाय, वाणी–
सांसदी है"[२]

---

१. नईम, भव्य भारती, अंक–७, पृ.३१

२. गुलाब सिंह, वही, पृ.३७

नीलम श्रीवास्तव इसी प्रकार 'जाने कब द्यूत सभा में / वंशी हो जायेगी बिगुल' की बड़ी सार्थक मिथकीय अभिव्यंजना करते हैं। विष्णु विराट चतुर्वेदी पौराणिक ऐतिहासिक मिथकों के माध्यम से आज की स्थितियों पर प्रश्नाकुल होते हैंः

"शतरूपा पूछ रही है

मनु से

बीज सभ्यता का बोया कहा ?

और ....

इस विजन में तथागत आए कभी थे

मिट गए पदचिहन इन पगडंडियों से।"[१]

हिन्दी नवगीत में ही यह जनवादी सोच समाविष्ट नहीं हुई। आज का समग्र साहित्य अपनी अभिनीत अभिजात मुद्रा का व्यामोह छोड़कर जनवाद की सहज मनस्थिति में अपने इर्द-गिर्द जीवन के सही धरातल की शोध करता हुआ अग्रसर हुआ है।

पारम्परिक गीतकार भले ही कल्पनालोक का राजकुमार हो किन्तु नव गीतकार तो यथार्थता की कठोर और कुरूप धरती का स्पर्श ही नहीं करता. अपितु संवेदना प्रवण भी बनाता है। जहां तक नवगीत की ऐतिहासिकता पर विचार करें तो नवगीत शब्द का प्रयोग ''गीतांगिनी'' पत्रिका के प्रकाशन १९५८ में इसके सम्पादक राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने किया था। फिर ''बासंती'' मासिक में सन् ६१-६२ में ''नये गीत - नये स्वर'' लेखमाला एवं ''रश्मि'' के नवगीत अंक में भी नवगीत की प्रगति सतत होती नजर आती है। इस प्रकार शनैः शनैः छठे एवं सातवें दशक में नवगीत अपनी पूर्णतः उड़ान पर परवान चढ़ चुका था।

१. विष्णु विराट, नये पुराने, अंक-१९९९, पृ.८९

नवगीत ने कथ्य के स्तर पर विभिन्न अध्याय बदले कभी सौन्दर्यबोध पर अधिक जोर दिया तो कभी शिल्प के स्तर पर संस्कृतनिष्ठ शब्दावली में भी बहक गया। किन्तु नवगीत का यथार्थपरक चेहरा जनधर्मिता में ही निहित रहा है। क्योंकि जन सामान्य की पीड़ा और संघर्ष को ग्राम्य जीवन एवं नगरबोध के साथ गड्ड-मड्ड करके शोषित जन का कण्ठहार बनकर ही नवगीत ने नये आयाम खड़े किये :

''वायदे के साथ वहाँ पहुँचा है / कितना कुछ रामराज अथवा जनसत्ता के भोले राजा के सिर / अभ भी है कांटों का ताज'' –विद्यानन्दन राजीव

शोषित पीड़ित वर्ग की यातना से गुजरते हुए नवगीतकार की पहुंच भावात्मक ही अधिक है; दरबदर है सर्वहारा हंस / जैसे संदर्भ दृश्टव्य है, व्यवस्था की बागडोर जिन हाथों में है वे जनविरोधी है – ऐसा नवगीतकार को अहसास है तभी तो रवीन्द्र भ्रमर ने लिखा है; ''रक्षकों की पहना कर वर्दी / राजपथ पर खड़े हैं बटमार / भेड़ियों के मुंह लगा है खून / चल रह है मरण का व्यापार। यहां नवगीतकार को यह भी लग रहा है कि युगबोध तोतला है, आलोचना गूंगी है। अश्वघोष के शब्दों में देखिये''; गूंगापन उग आया सबकी / फाकामस्ती में / एक उदासी सी फैली है / सारी बस्ती में।

बहुत से नवगीतों ने व्यवस्था और उसके पहरूओं को कटघरे में खड़ा कर दिया है। इतना ही नहीं, व्यवस्था से जूझने का संकल्प भी इन नवगीतों में मुखर हुआ है; उसकी आँखों में / धरती थोड़ी है ज्यादा पानी है / रेगिस्तानों में / आँधी से लड़ने की ठानी है। (वीरेन्द्र मिश्र)

यों तो नवगीतों में वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति बहुत मुखर और सपाट नहीं हुई है चूंकि गीत की अपनी सीमा भी होती है किन्तु नवगीत जहां जनगीत का रूप धारण

कर गया है, वहीं उसमें यथार्थ बोध अधिक मुखर हुआ है। देवेन्द्र शर्मा इन्द्र की निम्न पंक्तियों में आदमी की दिनचर्या बड़ी पीड़ाजनक रूप में व्यक्त हुई है –

"हर सुबह अंगारो पर / नंगे पैरों चलना / आंधी में पत्तों सा / टहनी से गिरना / दोपहर भर आँखों में / आकर मृग छलना / शाम के कंगूरों पर / बादल सा घिरना / जीने के नाम रोज जुड़ जाना / मृतकों की लम्बी परिपाटी में।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवगीत शिल्प एवं कथ्य के स्तर पर भावात्मक रोमानी बिम्ब प्रतीकों से निकलकर खुरदरी जनगीत की यात्रा तक विकसित हुआ है।

हिन्दी गीतों की रोमानी अभिव्यक्ति एक दीर्घजीवी उबाऊ मनस्थिति से जुड़ी रही है। इसमें बदलाव आया भी है तो अपनी निश्चित प्राचीरों के तहत ही वह अनुभव किया गया है।

नवगीत ही नहीं किसी भी विधा पर रूपवादी दृष्टि से सोचने के तरीके से किन्हीं सही नतीजों पर नहीं पहुँचा जा सकता बल्कि किसी रचना विधा के विकास को यों समझना चाहिए कि युग के संदर्भ में वह मानव शक्ति को कितना पहचानती हुई आगे बढ़ती है। जीवन की प्रगतिशील और प्रतिगामी शक्तियों में यह कैसा फर्क करती है? बकौल मुक्तिबोध इसी फर्क को समझाने वाली कविता 'कालयात्री' हो सकती है।

नवगीत को संकुचित दायरे में बांधना इसे अपाहिज करना है। यह शिल्प के नये आयामों को स्वीकारता है लेकिन एक विशेष रस, राग, भाव और एक विशेष सूझ–बूझ के साथ। सर्जक साहित्यकार का काम केवल इतना ही नहीं है कि परिस्थितियों का यथावत चित्रण ही करे और सांस्कृतिक मोर्चे पर पल्लेदारी की भूमिका निभाये बल्कि वह समाज को बदलने की भी पहल करता है। लेकिन यह पहल उन गीत कवियों द्वारा कभी नहीं हो सकती जो प्रगतिशीलता को केवल यह कह कर

१. मदन मोहन उपेन्द्र, सम्यक, अंक–२८, पृ.६

नकार देते हैं कि प्रगतिशीलता लाल सुबह, हँसिया, हथौड़ा, किसान, मजदूर हड़ताल आदि तक ही सीमित है। इसलिए वे प्रगतिशीलता को व्यापक अर्थ में नहीं समझ पाते। दर–असल प्रगतिशीलता मानव के विकास में यानी उसके जीवन व्यवहार में, चेतना में, उन सभी गत्यावरोधों का विरोध करती है जो मानव के विकास में रूकावट पहुंचाते हैं। चाहे वह क्षेत्र राजनीति का हो या धर्म का, संस्कृति का हो या कला का।

परम्परा का निषेध कोई कठिन कार्य नहीं, लेकिन परम्परा के ऊर्जा मूलक और जीवंत तत्वों को पुनः सृजित कर उसके अप्रासंगिक अंश का निषेध करना अवश्य कठिन और अधिक महत्व का कार्य है। नवगीत की यात्रा में वह मोड़ खोजा जा सकता है। जहां परम्परा के साथ वह व्यवहार प्राप्त होता है। गोया जहां व्यक्ति चेतना के समष्टि में रूपांतर की प्रक्रिया मौजूद रही। प्रसंगवश रमेश रंजक की यहां कुछ पंक्तियाँ देना गैर जरूरी न होगा।

''छोड़ रे !
कद छोड़, पीछे छोड़
पत्थरों की पसलियों को तोड़
ओ ! सृजन के बीच आँखें खोल
पतझर सिर चढ़ा है।''[1]

जिस 'कद' को छोड़ने का आव्हान कवि करता है वह व्यक्तिवादी रूमानियत की परम्परा का कद है, इसे तिलांजलि देकर ही समय की कठोर वास्तविकता की सतहों को तोड़कर मानवीय सत्य को समझ पाना सम्भव हो सकेगा। इस स्थिति के बाद और उसके साथ–साथ विकसित नवगीत व्यापक जन समूह को सम्बोधित रचनाओं से सम्पन्न है। इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं लेना चाहिए कि समूचा नवगीत

१. रमेश रंजक, उत्तरायण, संपा.–निर्मल शुक्ल, अंक–७, पृ.११

इन प्रगतिवादी प्रवृत्तियों से युक्त है। कतिपय गीतकारों में आज भी बच्चन और अंचल बोल रहे हैं। हम यहाँ नवगीत की स्वस्थ प्रकृति की ही चर्चा कर रहे हैं जो उत्तरोत्तर जनगीत की शक्ल में तब्दील होती जा रही है। यह निर्विवाद है कि किसी विधा के श्रेष्ठ होने का निर्णय उसके साहित्य की मात्रा से न होकर उनमें निहित मानवीय तत्व और समष्टिबोध की व्यापकता और गहराई से किया जा सकता है।

"जिस तरह कथा साहित्य में प्रेमचन्द की विरासत का प्रश्न उठता है उसी तरह नवगीत के संदर्भ में निराला की विरासत का प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है। उन कारणों तक भी पहुंचना चाहिए कि निराला अपने बाद की पीढ़ी के गीतों में गायब रहे और फिर पुनः वह नयी पीढ़ी को ऊर्जा देने लगे। निःसंदेह यह कारण कविता की मूल स्थिति से गहरे जुड़े हैं। इनके लिए न केवल व्यक्तिवादी गीत जिम्मेदार है बल्कि सत्ता और व्यवस्था की प्रलोभनमयी नीतियों की भी एक साजिश रही है। साहित्यिक स्तर पर जनवादी शक्तियों को दबाने के लिए व्यवस्था की ओर से बहुत नियोजित तरीके से बुर्जुआ प्रवृत्तियों को साहित्य में स्थान दिलाने के प्रयास किये जाते हैं जो कहीं न कहीं व्यवस्था के पक्ष में जनवादी शक्तियों के खिलाफ कारगर साबित होते हैं।"[१]

जनवादी संचेतना के सोच का दायरा अन्यन्त विस्तृत है। हम अपनी सहज दैनंदिनी से अपने छोटे-बड़े अनुभवों में डूबकर अनेक ऐसी मनोदशाओं को प्राप्त हो जाते हैं। जो दूसरे व्यक्ति के ध्यानाकर्षण का केन्द्र तो नहीं होते किन्तु जब हम अपनी इस मानसिक व्यथा को व्यक्त करने लगते हैं जो सुननेवाला व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द इन अनुभासों को रसेलने लगता है। वीरेन्द्र मिश्र अपने एक गीत में बड़े सरोकारों से 'नवगीत' की सम्प्रक्ति को कुछ इस तरह व्यक्त किया था –

" पीर मेरी कर रही गमगीन है मुझको

१. डॉ. महेश उपाध्याय – सम्यक, अंक-८, पृ.१८

और उससे भी अधिक तेरी आँखों का नीर रानी।

और उससे भी अधिक हर पाँव की जंजीर रानी।"[१]

'नवगीत' अपनी समकालीन गीत–प्रवृत्तियों से भिन्न प्रकृति लेकर आया। बच्चन, नेपाली, नीरज निश्चय ही बड़े गीतकार हैं, लेकिन उनमें लोकसम्प्रति न बराबर है। उन्हें 'घर', 'गाँव', 'तुलसी', 'बरगद', माता–पिता बहुत कम याद आते हैं। उनके गीतों में शहरातीपन ज्यादा है, वे अभिज्ञात रूचियों को अधिक तृप्त और संतुष्ट करते हैं। बच्चन ने कुछ लोकगीतात्मक रचनाएँ लिखी हैं, लेकिन वे उनके लोकजीवन से अंतरंग परिचय का प्रमाण नहीं देती हैं। 'नवगीत' स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में लोकजीवन के राग–विराग, संस्कृति, जीवन–संघर्ष को उसी की भाषा–शैली में प्रस्तुत कर गीत के एक नये मुहावरे को रचता है। वह कुछ–कुछ आँचलिक शब्दावली में प्रस्तुत कर सके हैं। दोनों की बुनावट में लोक–संस्कृति के तत्वों का योगदान महत्वपूर्ण है। दोनों ग्रामांचल के अप्रतिम एवं अकृत्रिम प्राकृतिक सौन्दर्य से बहुत कुछ पूँजी जुटाते हैं। लेकिन यह ज्ञातव्य है कि दोनों में अपने परिवेश की प्रामाणिकता भरपूर है और युगीन विसंगतियों के प्रति उनका रवैया आलोचनात्मक यथार्थवादी है। नवगीतकार एक ओर माँ, पिता, बहन पर इस तरह की पंक्तियाँ लिख रहे थे –

"माँ हमारी दूध का तरू / बाप बादल / औ बहन हर बोल पर /

बजती हुई मादल"[२]

दूसरी ओर नवगीत के शुरूआती दौर में ही उमाकांत मालवीय मौजूदा व्यवस्था के चरित्र को इन शब्दो में पढ़ रहे थे –

"एक इमला चल रहा था / और लेखन खल रहा था

---

१. वीरेन्द्र मिश्र, उत्तरा, संपा.–वंशीधर शर्मा, अंक–जुलाई १९७०, पृ.१२

२. ठाकुर प्रसाद सिंह – वंशी और मादल (काव्य संग्रह), पृ.८

बाँसुरी नीरो बजाता / रोम सारा जल रहा था"[१]

कुछ प्रारम्भिक नवगीतों में 'चुटकी भर चाँदनी', 'चम्मच भर धूप' जैसे नये प्रयोगों ने चौंकाया था, लेकिन जल्द ही इस प्रकार के प्रयोग नवगीत की रूढ़ि बनने लगे। इसी तरह 'धूप में जब भी जले हैं पाँव / घर की याद आयी' और 'अम्मा का खत' जैसे गीत बहुत ताजे और नये लगे थे। लेकिन कालांतर में 'गाँव' गीतकारों के लिए 'नास्टेलिज्या' बनने लगा तो स्वयं नवगीतकारों ने गाँव के प्रति ललक को जीवट और संघर्ष से जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। रमेश रंजक ने स्पष्ट किया –

"धूप में जब भी जले हैं पाँव, सीना तन गया है।

और आदमकद हमार जिस्म लोहा बन गया है।"[२]

सन् ६७ के बाद के देशव्यापी मोहभंग, नक्सलवादी दुस्साहस और कालांतर में आपात स्थिति में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन आदि कारणों से गीत का मुहावरा जुझारु हुआ है। बदलते परिवेश के अनुरूप बदलने की स्पष्ट घोषणा रवीन्द्र 'भ्रमर' ने अपने एक नवगीत में की है –

"समय के संग बाँसुरी का छंद बदला / नयी धुन बजने लगी

बढ़ चला संघर्ष का रथ विजय के पथ / आस्था सजने लगी

बदलते संकल्प के कल्पांतर हम

मुक्ति के संदेश से जुड़ गए हैं

हम नए परिवेश से जुड़ गए हैं।"[३]

रमेश रंजक का इतिहास दुबारा लिखने का आव्हान भी गीत के मिजाज के

---

१. उमाकान्त मालवीय, नवगीत नई दस्तक, संपा.–निर्मल शुक्ल, पृ.१२

२. रमेश रंजक, यह हरापन नहीं टूटेगा, पृ.३१

३. रवीन्द्र भ्रमर – सोन मछरी बसी, काव्य संग्रह, पृ.३०

बदलने की गवाही देता है। समाज के दुखदग्ध, उत्पीड़ित वर्ग से जुड़ने की तड़प इन पंक्तियों में स्पष्ट है –

"इतिहास दुबारा लिखो जुझारू भाषा में

किस तरह आदमी बैल बनाया गया यहाँ?

औरत क्यों कटी पतंग रही मस्तानों की?

मानवता ने लाठी खाई है कहाँ कहाँ?"[१]

'नवगीत' की 'जनगीत' में परिणति आकस्मिक नहीं है। जनगीत में भी लोक-संस्कृति छूटी नहीं है। फर्क इतना आया कि प्रकृतिक सौन्दर्य का प्रतिशत घटा है और श्रम–सौन्दर्य को प्रमुखता मिली है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि प्रकृति को भुला दिया गया हो। जनगीत के एक वरिष्ठ हस्ताक्षर नचिकेता ने एक जगह लिखा है –

" मैं नयी सुबह के होठों से

लाली लूँगा

लहराती फसलों से

कुछ हरियाली लूँगा

सुख–दुःख को बाँधूंगा

सपनों की चूलों से"[२]

प्रायः जनगीत उन्हीं गीतकारों ने लिखे हैं, जो घोषित ओर स्थापित नवगीतकार रहे हैं। इन जनगीतों में एक ओर जन की पक्षधरता है, दूसरी ओर जन–विरोधी व्यवस्था का खुला विरोध है।

जनगीतों का व्यवस्था–विरोध बहुत व्यापक है। यह केवल राजनीतिक सत्ता में

१. रमेश रंजक – इतिहास दूबारा लिखो, पृ.१८

२. नचिकेता – कोई क्षमा नहीं, पृ.३८

परिवर्तन के लिए उत्सुक नहीं है। सामाजिक–आर्थिक, मुक्ति, साम्प्रदायिकता निषेध, रूढ़ि–विरोध बाजारवाद का प्रतिरोध आदि तमाम सामयिक प्रश्न इस विरोधी–चेतना में समाहित हैं। गीतकारों को ज्ञात है कि 'श्वेत बगुलों का लगा है / झील पर पहरा' (राधेश्याम बंधु), 'संविधान हारा है / ढो ढोकर / अपना घर भरते हैं' (शिवकुमार 'पराग') और 'जीत रहे हैं खूनी भेड़िए / हिरनों के झुंड हारते हैं' (विष्णु विराट)। लेकिन इसी यथार्थबोध के बीच प्रतिरोध की प्रतीति सकारात्मक और आश्वस्त करने वाली है। महेन्द्र नेह की इन पंक्तियों में प्रतिरोध का रूप सामूहिक है –

"राजा ने लूटी, मोहल्ले की इज्जत

लोग खड़े हो गए

हम का जानी?"[१]

मदनमोहन 'उपेन्द्र' के गीतों में बदलाव का स्वर व्यवस्था–विरोध का धनात्मक पक्ष है –

"यह महल–झोपड़ी का जो भेद बढ़ा है। / तुम उसे मिटा कर ही दम लेना।"[२]

साहित्य में लोकवाद और जनवाद में केवल बौद्धिक सोच का ही अंतराल है। कथ्य और अनुभूति में दोनों की जमीन एक ही है। माँ, पिता, बेटी, दादा–दादी, बच्चे, अभाव, पीड़ा, हर्ष, दमन, शोषण, शोक, आनंद, मेला, त्यौहार आदि के आप लोक में भी व्याप्त हैं और जन में भी, अनुभव के धरातल पर जन संज्ञा लोक से कुछ उठकर संतुलित मनस्थिति का द्योतन कराती है जब कि लोक से हम आंचलिक ग्राम्य संस्कृति की सहज मनोवृत्तियों से जुड़ जाते हैं, इस संदर्भ में महेश अनघ का यह विशिष्ट गीत ध्यातव्य है–

---

१. महेन्द्र नेह – सम्यक, अंक–७, पृ.२४

२. डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ, वही, पृ.४७

"एक निबंध लिखो / माँ के अधभीगे अंचल पर
कथा कहानी लिखो / कि गौरी बैठी है अनमन
दूर कहीं झाड़ी में / कसमस आकुल एकवचन
लिखो कुनकुनी लहार / पोखरे के ठहरे जल पर
लिखो रम्य रचना / चौपालों पर किस्सागोई
द्वारे पर खनकी चूड़ी / तो शरमाया कोई
बिम्ब रचो / गूंगे के गुड़ भीतर की हलचल पर
गीत लिखो / मन के घावों पर मरहम-सा लेपन
भाव वसंत शरद की भाषा / लय में हो सावन
जेठ दुपहरी / फूल खिलाओ पानी के तल पर
तकनीकों पर क्या लिखना / शब्दों का कचरा घर
चारों दिशा सियासी भाषा / सरकारी अक्षर
खरा खरा लिखना / बाज़ारों के ग्लोबल छल पर"[१]

जनवादी सोच का दायरा अपेक्षाकृत विस्तृत है। इसमें ग्राम और नगर की समन्वित संस्कृति के स्थापित मानदण्ड उभरते हैं; नवगीत के माध्यम से ग्रामीण जीवन को, उसकी पुरानी पवित्रता, निश्छलता, सीधाई-सादगी की याद दिलाई जा सकती है। बशर्ते यह अनुभव भी न हो कि नये से उन्हें विमुख रहना है। नया ग्राह्य है, पुराना स्मरणीय। इस ग्राह्यता और स्मरण के बीच से वह ग्रामीण चरित्र निर्मित हो सकता है, जिसकी हमें अपेक्षा है। जनतांत्रिक व्यवस्था में जन की जागरूकता एक अनिवार्य जरूरत है। सहजता और संवेदनीयता के कारण नवगीत इस जरूरत को

१. महेश अनघ - युगीन काव्या, संपा-हस्तिमल हस्ती, वर्ष-४, अंक-१३, पृ.२१

उचित समाधान दे सकता है।

आज का समाज पूरी तरह राजनीति की गिरफ्त में है। कुछ अंशों तक वह हमेशा से रहा है। लेकिन इधर उसकी गर्दन पर यह शिकंजा जितना मजबूत हुआ है, पहले कभी नहीं था। कारण यह है कि राजनीति जब नीतिपरक होती है, तो जन-जीवन और समाज की सहायक और समान्तर गति वाली होती है, लेकिन जब अनीतिपरक हो जाती है तो समाज के आगे चलती है और उसे चौतरफा घेर लेती है।

"इस घिराव और घुटन के बीच नवगीतकार का रचनाकर्म राजनीतिक संदर्भों से भी जुड़ गया है। इस प्रसंग में जो गीत, नारेबाजी के तहत या फतवे और उपदेश के रूप में लिखे गये हैं वे 'नवगीत' की तसवीर खंडित करते हैं। लेकिन जो परिस्थिति से जूझने की छटपटाहट से निकले हैं वे उसकी सार्थकता को प्रमाणित करते हैं। आज प्रकृति, संस्कृति, समाज, राजनीति, सभी कुछ नवगीत की रचनात्मकता से पूरी तरह संबद्ध है।"[१]

जनवादी सोच में शहरी जन जागरण के तामझाम भी है और ग्राम्यांचली अंधेरी रातों के भयावह सन्नाटे भी हैं। नवगीतकार इन दोनों ही परिवेशों से गुजरता है। श्रीकृष्ण तिवारी का नवगीत कालचक्र इस संदर्भ में ध्यातव्य है –

"भीलों ने बाँट लिए वन। / राजा को खबर तक नहीं।
पाप चढ़ा राजा के सिर / दूध की नदी हुई जहर,
गांव, नगर धूप की तरह / फैल गयी यह नयी खबर।
रानी हो गयी बदचलन / राजा को खबर तक नहीं।
कच्चा मन राजकुंवर का / बेलगाम इस कदर हुआ,
आवारा छोरों के संग / रोज खेलने लगा जुआ।

१. गुलाब सिंह, नवगीत दशक-२, पृ.९३

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

हार गया दांव पर बहन। / राजा को खबर तक नहीं।
उल्टे मुंह हवा हो गयी / मरा हुआ सांप जी गया,
सूख गये ताल–पोखरे / बादल को सूर्य पी गया।
पानी बिन मर गये हिरन। / राजा को खबर तक नहीं।
एक रात काल देवता / परजा को स्वप्न दे गये,
राजमहल खण्डहर हुआ / छत्र–मुकुट चोर ले गये।
सिंहासन का हुआ हरन। / राजा को खबर तक नहीं।"[१]

नवगीत जनवादी स्वरों में जीवन के संघर्षों को ही रेखांकित नहीं किया गया, वरन् इनमें राजनीतिक दुराचरण, व्यवस्था की अनीतियों का पर्दाफाश, मानसिक त्रासदी के जीवन्त अनुभव, सामाजिक परिवेश के टूटते मूल्य आदि अनेक ऐसे विषय हैं जो जन सामान्य के जिन्दगी से सहज रूप में जुड़े हैं।

"राजनीति के प्रति स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग की मनस्थिति ने जनमानस को हताशा और नैराश्य के अंधकार में डाल दिया था। साम्प्रदायिक विद्वेष का टकराव जनवादी नजरिये से भी नवगीतों में उभरा है और अभिजान्य सोच के साथ भी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो छल, छद्म, शोषण, उत्पीड़न, अन्याय व स्वार्थ की स्थिति पैदा हुई, नवगीतकार ने एक ओर उनको अपने गीत–दर्पण में पूर्णतः प्रतिबिम्बित किया, दूसरी ओर इनके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली स्थिति के प्रति गंभीर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। इस प्रतिक्रिया के दो रूप हैं – एक है, उस असहाय, विवश, करुण स्थिति का चित्रण जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस प्रतिक्रिया का दूसरा रूप आक्रोश और चोट करने की प्रवृत्ति में व्यक्त हुआ है जिसके परिणामस्वरूप

---

१. श्रीकृष्ण तिवारी – कालचक्र से – नवगीत दशक–२, पृ.११४

व्यंग्य को नवगीत में विशिष्ट स्थान मिला है। नवगीत मूलतः संश्लेषणात्मक काव्य है। परन्तु संघर्ष के बीच, विरोध के दौर में उसे खंडनात्मकता का भी आश्रय लेना पड़ा है। खंडन की महत् शक्ति है–व्यंग्य और व्यंग्य का सशक्त रूप वह है, जिसकी परिणति करुणा में होती है और जो प्रायः अपने पर किया जाता है। नवगीत ने करुणोत्पादक व्यंग्य के माध्यम से युगीन परिवेश का सही चित्र प्रस्तुत किया है। 'नयी कविता' ने दावा किया था कि व्यंग्य का अस्त्र उसी के पास है और गीत की परिधि बहुत सीमित है। गीत की विस्तृत परिधि का परिचय तो पिछले पृष्ठों में दिया ही जा चुका है, यहाँ यह उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा कि नवगीत ने प्रमाणित कर दिया है कि वह भावोच्छ्वास मात्र नहीं है, उसमें व्यंग्य का पैनापन भी है। परिणामतः नये गीतकार ने 'काशी का पंडित' बनने की अपेक्षा 'मगहर के संत' की भूमिका स्वीकार की है। नवगीत ने सामाजिक शोषण, राजनैतिक अधिनायकवाद, साहित्यिक दलबंदी व मुखौटाधारी लेखन को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों, नगरबोध की जटिलताओं, त्रासद एवं करुण संदर्भों ने उसकी जिजीविषा को समाप्त नहीं किया है। परिणामतः उसकी संघर्ष करने की, चोट करने की शक्ति चुकी नहीं है। अपने महत्व एवं अस्तित्व को प्रमाणित करते हुए नवगीतकार ने युग के हर विद्रूप को नंगा किया है।"[१]

जनवादी सोच में आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का लेखा–जोखा तो है ही साथ में आंचलिक संस्कृति के परिवर्तित सृप की भी छबि स्पष्ट हुई है।

सोमठाकुर का मानना है कि नवगीत में कुछ आंचलिक बोध के रचनाकारों का अचनाक प्रासंगिक हो जाना बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। जिसे आंचलिक गंध के सूत्र से आबद्ध वह अग्रसर हो रही है, उसका दिशा–सूचन बहुत पहले एक बड़े पैमाने पर

१. राजेन्द्र गौतम – हिन्दी नवगीत, उद्भव और विकास, पृ.१२५

नवगीत द्वारा ही हुआ था। आधुनिक लेखन पर नवगीत का यह देह अप्रत्यक्ष कर की भांति चढ़ गया है। नवगीत के लोक तत्व ने आधुनिक हिन्दी कविता को विजातीय होने से बचाया है। नवगीत में आयातित, अनपची मनःस्थितियों की अपेक्षा अनुभूत यथार्थ के 'स्व' और 'पर' परक आयाम छन्दानुशासित मुक्त लय संधान द्वारा उजागर हुए हैं। यही कारण है कि नवगीत का सोच बिलकुल निजी सोच है। यदि नवगीतों का अनुवाद किसी यूरोपीय भाषा में किया जाये तो ये कृतियां विदेशी कविता की अनुकृति की अपेक्षा संघर्षशील भारतीय मानस की मौलिक छबि का अंकन अपनी ही अनुगूंज के साथ करेंगी। नवगीत का कथ्य हमारे देश की निजी कड़वी–मीठी संवेदनशीलता का आसव है और उसका शिल्प निजी अभ्यासों के अनुकूल अपनी मिट्टी की नयी तराश और पकड़ की गुंजाइश का पात्र, जिसके सर्जक की कसौटी में स्वयं का व्यक्तित्व स्पष्ट निजता के साथ ध्वनित हो रहा है। यह सार्वजनिक निजता ही नवगीत का पारस्परिक सेतुबंध है।

यह एक कैसा विचित्र संयोग है कि इस शताब्दी के मध्य में अन्तर्राष्ट्रीय काव्य–मंच पर मुख्य रूप से तीसरी दुनिया के उन रचनाकारों का अभ्युदय हुआ है जो साहित्य के केन्द्र, पेरिस–लन्दन और न्यूयॉर्क आदि महानगरों से न उठकर छोटे–छोटे कस्बों से उठे हैं। दृष्टव्य है कि अधिकांशतः नवगीतकार भी भारतीय साहित्यिक केन्द्रों वाले नगरों से न उठकर गांवों और छोटे कस्बों से ही उठे हैं। इससे सिद्ध होता है कि नवगीतधर्मा रचनाकारों की अन्तःचेतना अपने प्रकार में भारतीय होते हुए भी विश्व–काव्य की समानान्तर वीथियों से गुजर रही है।

साम्प्रतिक काव्य–रूपों में केवल नवगीत ही ऐसे शुद्ध काव्य का प्रारूप है जिसका अभिधा से दूर–दूर तक कोई सरोकार नहीं है। नवगीतकार के दोनों हाथ लाक्षणिक प्रत्यंचा के धनुष और व्यंजना वाण से घिर रहते हैं। उसकी सुस्पष्ट दृष्टि

मीनाक्ष–वेधी है। नवगीत आशय और अभिव्यक्ति की सुसंस्कृत पूर्णता में विश्वास रखता है। सपाटबयानी और अतिशय अवैज्ञानिक चामत्कारिक कलाबाजी ही वास्तव में पारम्परिक गीत और नवगीत की विभाजक रेखा है।

"नवगीत आधुनिक पाश्चात्य काव्य–तंत्र की उपयोगी स्थापनाओं के साथ पौर्वात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के पोषक तत्वों के संचयन के पक्ष में है। उसका नकार केवल उन निर्जीव मान्यताओं के प्रति है जो रचा को जड़ और रूढ़ संस्कार पर स्थिर करती है। काव्यशास्त्र के उन सभी तत्वों के प्रति उसका सकारात्मक व्यवहार है जो मनोविज्ञानसम्मत प्रक्रिया के साथ मानवीय संवेदन की संगत करते हैं।

जन–स्वीकृत रचाकारों के इस सार्थक समूह में मैं एक ऐसे बिन्दु पर खड़ा हूं जहां सभी सम्भावित दिक्कोण मुझे छूते हैं और मेरी कलम, सृजनधर्मित से युक्त स्वीकार्य–अस्वीकार्य मूल्यों के संवाहक धनावेश–ऋणावेश की उजामियों संचरित रेखाओं के बीच, मात्र एक गतिशील यंत्रांश है।"[१]

कहीं कहीं तो नवगीतकारों ने जनवादी स्वरों की अनुगूंज गाँव के धूल धुसरित अंचलों में सुनी है। तब वे शहरी संभाल के आरोपित दर्द को सिरे से नकार देते हैं; शंभुनाथ सिंह की में पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

"सुनना होगा जीवन का स्वर।
अब न अधिक टिक सकता
सपनों के भू पर निर्मित सुख का स्वर !"[२]

इन्द्रधनुषी वैयक्तिक स्वप्न महलों को रेत के घरौंदे सा रौंधता कवि विश्वमंगल मानवमंगल की अभीष्ट कामना करता है। हर्ष और आशीर्वाद के सुमन भी बिखेरता है।

---

१. सोम ठाकुर, सार्थक, पृ.३१

२. शंभुनाथ सिंह, नवगीत अर्धशती, पृ.४१

कलात्मक सौन्दर्य से अनूठे गीतों के बीच कई गीतों के सम्बोधनात्मक स्वर जरा अखर जाते हैं। इस संग्रह में कवि ''सामाजिक वैषम्य से उत्पन्न अव्यवस्था का घोर अभिशाप कवि मूक होकर नहीं देखता बल्कि इस अभिशप्त सामाजिक कैंसर से ग्रस्त जीवन के विभिन्न पक्षों से निर्भीकता के साथ मलमल का रेशमी कफन उठाता है। ऐसे यथार्थवादी कठोर क्षणों में कवि किसी प्रकार के दर्शन अथवा राजनीतिक वाद से प्रभावित नहीं है बल्कि सहज मानवीय अनुभूतियों को अपनी प्राण चेतना में व्यवस्थित कर अपनी विचारोर्मियों को नवीनता से संस्कृत करता है।'' वह स्वयं को समझाता कहता है कि 'दाह के गायक तुम्हें आह से क्या काम है।' संघर्ष को प्राधान्य देते कवि ने अर्जित शक्ति का घनत्व बढ़ाया है और कर्म क्षेत्र में विश्वासदीप जला प्रयाण हेतु सनद्ध हो उठा है।

मन्वंतर में कवि प्रतिभा क्षीण दिखती है। इसमें वह प्रचारक की भूमिका निभाता है। ''जिस कवि ने उदयाचल में अपनी दाद-विहीनता का अत्यधिक नीव्रता से प्रकाशन किया था, अनायास 'मन्वंतर' में एक वादी प्रचारक बनकर उभरा है। चूँकि वह इस संग्रह में प्रचारक है और प्रचारक तथा कवि में बहुत अन्तर होता है यही कारण है कि उसकी कविताएँ भी अनुभूति शून्य, नीरस और प्राणहीन बन गईं है।''

''इस प्रकार शंभुनाथ जी का कवि जीवन विकासवान और विविधामुखी, साथ ही मानवता का एकनिष्ठ उपासक रहा है। नैतिकता का हनन वह किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं करता। 'माध्यम मैं' के गीतों की ताजगी नवगीत के समीप की है। इसके बाद उनका नाता नवगीत से जुड़ा जहाँ दर्द नीला है 'गीतसंग्रह में'। कवि कथन है – ''कहने और न कह पाने के अन्तर्द्वन्द्व ने इन गीतों को ऐसा अटपटा बना दिया है कि गीत-विधा का समस्त परम्परागत कथ्य इनसे बहुत पीछे छूट गया है। इस अटपटेपन

के कारण भी शायद इनमें कुछ नवीनता है। यह नवीनता यदि इन गीतों को नवगीत बनाए तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।"[1]

गीतों के वर्ण्य में स्वयं की प्रस्तुति का सहज अनुभव नवगीतकारों ने किया है। बालस्वरूप राही की ये पंक्तियाँ देखिये –

" मैं न बुलाने गया कभी गीतों को इनके द्वार,
ये ही पता पूछते सबसे, आए मेरे पास
एक शाम मेरे घर आकर बोले मुझसे गीत
राज तुम्हारा कभी किसी से हम न कहेंगे मीत।
पहेल तो बहला–फुसलाकर जान लिया सब भेद
अब प्रचार करते फिरते हैं मेरे ही विपरीत
आँगन–आँगन मेरी बदनामी करते हर रोज
गली–गली में करवाते हैं ये मेरा उपहास।"[2]

"आगे वे प्रिया से कहते हैं तुम जलता दीप हाथ लिए जागती रहो, तो मेरा पथ अँधेरे से रहित व मेरा मन सजग विश्वास से पूर्ण साहसी बना रहेगा। ....मेरा अनुभव कहता है कि चौराहों पर मिलने वाले अपने नहीं होते। इसलिए ममता का दाँव लगाकर मैं शंकित मन सोचता हूँ कि मैंने तुम्हें जीत लिया है या स्वयं को हार दिया है। .....आज मन की निर्मलता का कोई मोल नहीं तभी लोग तन की बदसूरती को ही देख नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। ....तुम्हें देख ऐसा लगता है मानों मैं स्वयं को दर्पण में निहार रहा हूँ। तुम्हें प्यार करते खुद को दुलार रहा हूँ। जो तुमसे मिला वही सत्य था शेष मन की छलना थी। सुख पाने के कारण मेरी आत्मा गा रही है। दर्द सहकर

१. कांति लोधी – साठोत्तरी हिन्दी गीतिकाव्य : परम्परा और प्रयोग; पृ.३६५

२. बालस्वरूप राही, वही, पृ.३१८

अब मैं गीतों से जी बहला रहा हूँ। स्नेह भीगे स्वर, प्राप्त प्रशंसा से बढ़कर हैं। प्यार की धरा गगन से तथा मेरे गीत सुनकर तुम्हारी आँख से गिरे आँसू, अनमोल रत्न से कम नहीं हैं। जाने वाले, दर्द नहीं मिटता फिर भी आगत के स्वागत में आँखें बिछ ही जाती हैं। मातम के सौ मौन हरा देने के लिए सरगम से प्रारम्भिक स्वर ही काफी है।''[1]

नवगीतों में जनवादी स्वर उड़ेलने वाले प्रमुख हस्ताक्षर रमेश रंजक वर्ण्य और प्रस्तुति दोनों में ही जनवादी हैं।

''रमेश रंजक अपने प्रथम गीत संग्रह ''किरन के पाँव'' में उद्घोष करते हैं कि– तुकबन्दी से मैं दूर रहा। मैं गीतकार का जप–तप न होकर कहकहा हूँ। मुझे इतनी आजादी नहीं मिल सकी कि मैं समझौतावादी जिन्दगी जी सकूँ। छन्द की गंध से मोहित हो मैं गीत गुनगुनाने लगा। .....बिना पढ़ा और बिना स्पर्श किया गया आँसुओं का शिलालेख यह जीवन अन्धी बरसात, बद्दुआओं और नफरत के धुएँ से भरा हुआ है। .....महानगर दिल्ली का संत्रास व्यक्त करते वे से कूटनीति की पुस्तक कहते हैं। यहाँ का आवरण चमकीला पर व्याकरण उल्टा है। विद्वेष की गंध शब्दों से फूट पड़ती है। उलजी–पोशाकें साँवले मन छिपाए, सत्य–अहिंसा के पंखों–पीछे धाँधली मचाए रहती है। खुदगर्जी नागिन, रखवाले चोर और आदमी यहाँ के आदमखोर (हिंस्त्र) हैं। ....सुधि गंध पाते ही पतझर के दिन मधुमास बन गए। रात, तुलसी चौरे पर दिन की अर्चना हेतु झुकी। युगों से भूले दो नाम समास हो गए। यादों की अरगनी पर सम्बोधन बुहरा आँगन नया हो गया। दालान, देहरी, क्यारी सी महक उठी। चाँदनी रात में झील में अनमनी प्रीत झाँकने लगी। गीत–शंख टूट गए। मौसमी संकेत बुझे शोले दहकने लगे। कंगन के बोल कुछ समझाने लगे। .....क्षणिक पराग से खेल हम

१. कांति लोधी – साठोत्तरी हिन्दी गीतिकाव्य : परम्परा और प्रयोग; पृ.४००

उम्र भर, दिए से जलते रहे। इस दहन ने सभी धुँधले दृश्य सघन कर दिए। धूप अंबर से आ छत पर बैठ दर्पण में श्रृंगार कर रही है। ....तुम्हारे दर्द भरे गीतों ने मन के घाव हरे कर दिए। स्मृति सावन बरसने लगे। ....सागर किनारे अम्बर की तनहाई ओढ़े, टूटी खुशियाँ जोड़े बिदाई अनमनी खड़ी रही। ...उपालंभ भरे अधखिले छन्द भंग लाचार बन गए पीड़ा से भाँवर तो पड़ गई पर दुखियारी दुल्हिन की मुँह दिखाई कौन करे? .....शपथ की परिधि ने दुख को कथा बनने से रोकलिया। मनचली हवा ने पाँव की बिवाई का दुख माथे तक पहुँचा दिया। गागर भर तनहाई सागर का विशाल आँगन नाप गई। ....भरे बड़े घर में सिरफिरी पीकर मेरे नीलकंठी मन ने क्या-क्या आघात नहीं सहे। .....तुम मुझे इतना प्यार करो कि नमन गीत बन जाएँ। ....जगत की भेदभरी बातों ने हमारे पंख काट हमें विवश जीवन की सलामी दे दी। ....थकन के बाद आराम की घड़ियाँ बिताती, गाल पर हथेली रखे हवा, शाम से जाने क्या-क्या सोच रही है। नई वर्णमाला ने स्वर-व्यंजन बदल, शक्ति छीन ली। कुंठाओं ने घर की खुशियाँ निर्वासित कर दीं। ....मैंने अपने आँगन में बिखरे दुख के क्षणों को समेट कर गीतों के मुखड़े बना लिए। ....सारा चैन ब्याज में देकर, अनियंत्रित घायलपन लेकर मैं अतृप्त डोल रहा हूँ। पलभर का सागर मुझे डुबा गया। तन-चन्दन चिन्ता की नागिन बन गया और सम्बोधन भी रूठ गए, मीत भी। .....भ्रमर की एक गूँज ने कलियों का मान तोड़ दिया, और अब उनके अरुणिम ओठों से गन्ध भरी मुस्कानें फिसल रही हैं। ....सौगात में मिले सभी दिन मैंने गीतों को समर्पित कर दिए।"[१]

नवगीतों में जनवादी स्वरों को समाहित करने वाले समर्थ रचनाकारों में रमेश रंजक, शलभ श्रीराम, शंकर द्विवेदी, सोमठाकुर, माहेश्वर तिवारी, विष्णु विराट तथा महेन्द्र नेह का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने जनाग्रही रुझान के केन्द्र में रखकर अपने सार्थक नवगीतों की रचना की है।

१. कांति लोधी – साठोत्तरी हिन्दी गीतिकाव्य : परम्परा और प्रयोग; पृ.४१६